आत्मन्! आत्मनि तिष्ठतु

समवशरण एवं दिव्यध्वनि संबंधी

नवीन प्रमेय

समवशरण में –

- अरहंत और सिद्ध – दोनों प्रकार की प्रतिमाएँ मानस्तम्भ आदि अनेक स्थलों पर विराजमान होती हैं। (विवरण, पृष्ठ–६९)
- जीवों को अपने भव भामण्डल, वापिका और दर्पण नामक मंगल द्रव्य – इन तीनों स्थानों पर दिखाई देते हैं। (पृष्ठ–८९)
- समवशरण के अन्दर अधिकांश रचनाएँ अकृत्रिम जिन–चैत्यालयों के समान होती हैं। (पृष्ठ–१६२)
- तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि मुख से खिरने पर भी सर्वांग से खिरती हुई कही जाती है। (पृष्ठ–१२९)
- तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि अनेक बीजपद रूप होती है। जिसमें से ओम भी एक बीजपद है; अतः दिव्यध्वनि को ओमकारमयी कहा जाता है; परन्तु दिव्यध्वनि मात्र ओमकारमयी नहीं होती, अपितु अनेक बीजपद रूप होती है। जिसे गणधर देव १८ महाभाषा और ७०० लघुभाषाओं के माध्यम से भव्य जीवों तक पहुँचाते हैं। (पृष्ठ–१४०)
- तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि को मागध जाति के देव नहीं खिराते हैं और न ही परिणमित कराते हैं; अपितु मात्र स्पीकर के समान दिव्यध्वनि को सभी जीवों तक पहुँचाते हैं। (पृष्ठ–१४२)
- बारह सभाओं में बैठे हुए भव्य–जीवों की शंकाओं का समाधान गणधर देव करते हैं। (पृष्ठ–१५१)
- ऐसे विराट, विशाल–समवशरण की रचना तीर्थंकर नाम–गोत्र कर्म के उदय से होती है। (पृष्ठ–१६३)

.... इसी पुस्तक से।

समवशरण के संदर्भ में ऐसे ही अनेकों महत्त्वपूर्ण तथ्यों की जानकारी के लिए इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें।

आगम के आलोक में...

समवशरण रचना वर्णन

-पण्डित अमन जैन शास्त्री

आगम के आलोक में ....

समवशरण रचना वर्णन

लेखक :

पण्डित अमन जैन शास्त्री

लोनी (दिल्ली)

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए–4, बापूनगर, जयपुर–302 015

फोन : 0141–2707458, 2705581

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

प्रथम संस्करण : 1 हजार प्रतियाँ
(दिनांक 6 फरवरी 2020)
कविवर बनारसीदास जयन्ती

मूल्य : **तीस रुपए**

मुद्रक :
रैनवो ऑफसैट प्रिन्टर्स
बाइस गोदाम, जयपुर (राज.)

विषयानुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ
●	प्रकाशकीय	५
●	शुभाशीष-डॉ हुकमचन्द भारिल्ल	७
●	आत्मकथ्य	९
●	समवशरण एवं दिव्यध्वनि संबंधी नवीन प्रमेय	४५
●	मंगलाचरण	४७
१.	सामान्य वर्णन	४९
२.	सोपान	५२
३.	गोपुरद्वार	५३
४.	नव निधि	५५
५.	अष्ट मंगल द्रव्य	५५
६.	द्वारपाल	५६
७.	नाट्यशाला	५६
८.	धुपघट	५७
९.	महावीथी, द्वारों के वर्ण	५८
१०.	समवशरण के अन्तर्गत कोट, वेदि एवं भूमियाँ	६०
११.	पहला धूलिसाल कोट	६१
१२.	पहली चैत्यप्रासाद भूमि	६४
१३.	मानस्तम्भ	६६
१४.	अरहंत और सिद्ध प्रतिमा में अन्तर	६९
१५.	वापिका, कुण्ड	७३
१६.	पहली वेदी	७५
१७.	दूसरी खातिका भूमि	७६
१८.	दूसरी वेदी	७८
१९.	तीसरी लता भूमि	७९
२०.	दूसरा कोट	८१
२१.	चौथी उपवन भूमि	८२
२२.	तीसरी वेदी	९१
२३.	पाँचवीं ध्वज भूमि	९२
२४.	तीसरा कोट	९७
२५.	छठवीं कल्प भूमि	९७
२६.	चौथी वेदी	१०२
२७.	सातवीं भवन भूमि	१०२
२८.	स्तूप	१०३
२९.	चौथा कोट	१०८
३०.	आठवीं श्रीमण्डप भूमि	११०
३१.	पाँचवीं वेदी	११५
३२.	पहली पीठ	११६
३३.	दूसरी पीठ	११८
३४.	तीसरी पीठ	११८
३५.	गंधकुटी	११९
३६.	सिंहासन	१२०
३७.	भामण्डल	१२१
३८.	अशोक वृक्ष	१२२
३९.	छत्र	१२२
४०.	चँवर	१२३
४१.	दुंदुभि	१२३
४२.	दिव्यध्वनि	१२४-१४४
●	दिव्यध्वनि-आखिर दिव्य क्यों?	१२५
●	दिव्यध्वनि खिरने का काल	१२७
●	दिव्यध्वनि मुख से या सर्वांग से?	१२९

क्र. विषय	पृष्ठ	क्र. विषय	पृष्ठ
●दिव्यध्वनि – अनेक बीजपदरूप	१३४	४४.विहार	१६०
● बीजपद?	१३६	●समवशरण–अकृत्रिम चैत्यालय के समान	१६३
●दिव्यध्वनि अक्षरात्मक–अनक्षरात्मक	१४०	● समवशरण की रचना किस कर्मोदय से?	१६४
●दिव्यध्वनि अर्धमागधी रूप कैसे?	१४२		
४३.गणधर	१४५–१५९	४५.समवशरण की रचना को जानने से लाभ	१६७
● गणधर की आवश्यकता	१४५		
● दिव्यध्वनि में प्रयुक्त गणधर देव की ऋद्धियाँ	१४७	४६.वर्तमान समय में समवशरण की रचना	१७०
● शंका–समाधान की व्यवस्था	१५१	४७.संदर्भ ग्रंथ सूची	१७२
● गणधर देव की ऋद्धियाँ	१५२	४८.विद्वानों के अभिमत	१७४
● गणधर देव की विशेषताएँ	१५७	४९. चित्र	१७७–२००

स्वयं को जानो, जानो नहीं जानना होने दो तुम सहज।
जानने का तनाव मत करो जानते रहो निरन्तर सहज।।
अरे करने–धरने का बोझ उतारो हो जावो तुम सहज।
जानने के तनाव से रहित जानना होने दो तुम सहज।। ७ ।।
जानना होने दो तुम सहज जानने के विकल्प से पार।
और तुम हो जावो निर्भार भाड़ में जानो दो तुम भार।।
भाड़ में जाने दो तुम भार करो तुम अपने में निर्धार[१]।
यदि बनना चाहो भगवान उन्हीं–से हो जावो निर्भार।। ८ ।।
उन्हीं–से[२] हो जावो निर्भार उन्हीं–से हो जावो निर्ग्रन्थ।
चाहते हो तुम भव का अंत शीघ्र ही छोड़ो जग का पंथ।।
सहजता जीवन का आनन्द यही है परमागम का पंथ।
चलो तुम परमागम के पंथ शीघ्र आवेगा भव का अंत।। ९ ।।
शीघ्र आवेगा भव का अन्त प्रगट होगा आनन्द अनन्त।
ज्ञान–दर्शन भी होंगे नंत वीर्य भी होगा अरे अनन्त।।
अनन्तानन्द अनन्तानन्द अनन्तानन्द अनन्तानन्द।
अनन्तानन्द अनन्तानन्द अरे भोगोगे काल अनन्त।। १०।।

समाधि का सार, पृष्ठ–१४

प्रकाशकीय

जैनागम में तीर्थंकर की धर्मसभा को समवशरण कहा गया है, समवशरण दो शब्दों के मेल से बना है सम अर्थात् सबको, शरण से तात्पर्य है अवसर। अर्थात् जहाँ ज्ञान पाने का सबको समान अवसर मिले उसे समवशरण कहा जाता है। समवशरण में बैठकर तिर्यंच, मनुष्य, देव सभी दिव्यध्वनि का श्रवण कर सुख शांति का अनुभव करते हैं। समवशरण की रचना जब तीर्थंकर को तपश्या के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त होता है, तब सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर के द्वारा की जाती है। यह गोलाकार होता है।

समवशरण की रचना बेहद अनुपम है, इसमें आठ भूमियाँ, आकर्षक नाट्यशालायें, पुष्प वाटिकायें, वापिकाएँ, चैत्य, वृक्ष, धूपघट, क्रीडांगन, मानस्तम्भ इत्यादि होते हैं। सभी जैन समवशरण शब्द से तो भलीभाँति परिचित हैं; परन्तु इन सबकी रचना कौन करता है, कैसे होती है, कहाँ होती है; उसका आकार–प्रकार क्या है? आदि सभी को जानने की जिज्ञासा प्रत्येक जैन में होना स्वाभाविक है।

हमारे टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के मेधावी छात्र पण्डित अमनजी शास्त्री ने बहुत ही श्रमपूर्वक आगम के आलोक में 'समवशरण रचना वर्णन' नामक कृति लिखकर समवशरण रचना का सांगोपांग वर्णन तो किया ही है। तत्सम्बन्धी चित्र देकर इसे उपयोगी

बना दिया है। कृति की विषय वस्तु के संदर्भ में अमनजी शास्त्री ने आत्मकथ्य में विस्तार से लिखा है, उसे पढ़कर समवशरण के विषय में उठी जिज्ञासा को सहज शांत किया जा सकता है।

प्रस्तुत कृति जन-जन तक अल्पमूल्य में पहुँचाने के उद्देश्य से साधर्मी बन्धुओं ने कीमत कम करने में दानराशि लिखाई है जो पृष्ठ 8 पर दृष्टव्य है। प्रकाशन की सम्पूर्ण व्यवस्था सदा की भाँति विभाग के प्रभारी अखिल बंसल ने बखूबी सम्हाली है, टाइप सैटिंग कार्य में श्री कैलाशचन्दजी शर्मा व चित्रों को समाहित करने के कार्य में श्री पीयूषजी का सहयोग प्राप्त हुआ है, इसके लिए इन सभी का आभार। इस कृति के माध्यम से सभी समवशरण के यथार्थ स्वरूप को समझकर अपने आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करें - इसी भावना के साथ -

ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.
प्रकाशन मंत्री

श्रावक के इक्कीस गुण

(सवैया इकतीसा)

लज्जावंत दयावंत प्रसंत प्रतीतवंत,
परदोष कौ ढकैया पर-उपगारी है।
सौमदृष्टि गुनग्राही गरिष्ट सबकौं इष्ट,
शिष्टपक्षी मिष्टवादी दीरघ विचारी है।।
विशेषग्य रसग्य कृतग्य तग्य धरमग्य,
न दीन न अभिमानी मध्य विवहारी है।
सहज विनीत पापक्रिया सौं अतीत ऐसौ,
श्रावक पुनीत इकवीस गुनधारी है।।
- बनारसीदासजी

शुभाशीष

तीर्थंकर की धर्मसभा को समोसरण कहते हैं। उसकी रचना सौधर्म इन्द्र के माध्यम से होती है। वह धर्मसभा हमारी धर्मसभा जैसी नहीं होती; अपितु गोलाकार होती है। बीच में भगवान विराजमान होते हैं और चारों ओर श्रोताजन बैठते हैं। उसमें चारों ओर कुल मिलाकर बारह सभायें होती हैं; जिनमें मुनिराज, आर्यिका, श्रावक एवं श्राविकाओं के साथ-साथ देव-देवांगनाएँ तथा पशु-पक्षी भी श्रोताओं के रूप में बैठते हैं।

यद्यपि भगवान बीच में विराजमान होते हैं, तथापि चारों ओर बैठे लोगों में से किसी की ओर उनकी पीठ नहीं होती; सभी को ऐसा लगता है कि मानों भगवान का मुख उनकी ही ओर है। उनका मुख चारों ओर होने से उन्हें चतुर्मुख भी कहा जाता है।

उनके चार मुख नहीं होते, पर कुछ ऐसा अतिशय होता है कि उनका मुख चारों ओर बैठे लोगों को दिखाई देता है। इसप्रकार के अनेक अतिशय उनके समोसरण में देखने में आते हैं।

उक्त बारह सभाओं से अतिरिक्त समोसरण में बाग-बगीचे, नाट्यशालायें, नृत्यशालायें आदि अनेक प्रकार की सुन्दरतम रचनायें होती हैं।

यद्यपि जिनागम में प्रसंगानुसार यथास्थान समोसरण की रचना के संबंध में विवरण प्राप्त होता है; परन्तु अभी तक एक ऐसी पुस्तक देखने में नहीं आई, जिसे पढ़कर पाठकों के ख्याल में समोसरण का स्वरूप पूरी तरह स्पष्ट हो जावे।

चि. **अमन जैन शास्त्री** लोनी ने **'समवसरण रचना वर्णन'** नामक कृति प्रस्तुत कर उस कमी की पूर्ति की है।

यह एक प्रामाणिक रचना है, जिसे अमन जैन ने बहुत श्रम से तैयार किया है। समवसरण का स्वरूप जानने की जिज्ञासा रखने वाले धर्मप्रेमी भाई-बहिनों को इसका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये।

३१ जनवरी २०२० ई. **- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर**

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

1.	श्री विनीत जैन शास्त्री पुत्रश्री अशोककुमार जैन, मुम्बई	5,100.00
2.	श्री अनिलकुमार जैन, दिल्ली	5,000.00
3.	श्रीमान् नीलेशजी जैन, पं. ऋषभजी शास्त्री, संयम जैन, दिल्ली	3,100.00
4.	श्री के.पी. जैन, वामिका जैन, सम्भव जैन, शाहदरा, दिल्ली	1,111.00
5.	पण्डित जिनकुमारजी शास्त्री (उपप्राचार्य), जयपुर	1,100.00
6.	पण्डित नीशुजी शास्त्री (मढ़देवरा), जयपुर	1,100.00
7.	श्री बाबूलाल त्रिवेदी, पल त्रिवेदी, गांधीनगर, गुजरात	1,001.00
8.	कुमारी भूमिका जैन पुत्री श्रीमती रितु जैन, खतौली	1,000.00
9.	श्री अमन जैन शास्त्री पुत्र श्री मुकेश जैन, आरोन	501.00
10.	श्री आप्त अनुशील जैन, दमोह	501.00
11.	श्री लक्षित जैन पुत्र श्री महावीर जैन, टोकर (उदयपुर)	500.00
12.	पण्डित सचिनजी शास्त्री, गढ़खेड़ा, जयपुर	500.00
13.	श्री अर्पित जैन शास्त्री पुत्र श्री सुनीलकुमार जैन, भिण्ड	500.00
	योग	21,014.00

धन की दान देने में ही सार्थकता

(वसंततिलका)

दानाय यस्य न धनं न वपुर्व्रताय,
नैवं श्रुतं च परमोपशमाय नित्यम्।
तज्जन्म केवलमलं मरणाय भूरि–
संसारदुःखमृतिजातिनिबन्धनाय।। २१।।

अर्थ – जिस मनुष्य का धन, दान देने के लिए नहीं है; शरीर, व्रत के लिए नहीं है और शास्त्र, उत्तम शांति को प्राप्त करने के लिए नहीं है उस मनुष्य का जन्म, संसार के जन्म–मरण आदि अनेक दुःखों को भोगने के कारण मरण के लिए ही है। **– पद्मनन्दि पंचविंशतिका, दानोपदेश अधिकार**

आत्मकथ्य

तीर्थंकर ऋषभदेव से महावीर पर्यन्त जिस ज्ञानतीर्थ का प्रवर्तन हुआ है, उसी ज्ञानतीर्थ को अनवरत रूप से प्रवाहित करने में सतत् संलग्न ज्ञानतीर्थ श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय का उद्‌भव ही जिनेन्द्र प्रदत्त सिद्धान्तों के परिज्ञान पूर्वक आत्मानुभूति और तत्त्वप्रचार के प्राप्ति के उद्देश्य से हुआ है।

ये दोनों उद्देश्य मात्र इस महाविद्यालय के ही नहीं है; अपितु यहाँ अध्ययन करने वाले प्रत्येक विद्यार्थी एवं आत्मार्थी के हैं। इन उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायभूत जिनेन्द्र-प्रदत्त सिद्धान्तों का परिज्ञान छात्रों को विविध ग्रन्थों एवं विभिन्न शैलियों के द्वारा कराया जाता है।

मेरे जीवन में भी इन उद्देश्यों का बीज आध्यात्मिक सत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी की साधना भूमि, सोनगढ़ में श्रीमंत सेठ अनंतभाई द्वारा बालकों में बचपन से ही तत्त्वज्ञान के संस्कार आयें, इस उद्देश्य से शुरू किये गये विद्यालय ''कहान शिशु विहार'' में पड़ा था। जो इस महाविद्यालय में प्रवेश के साथ ही पल्लवित और पुष्पित होने लगा।

महाविद्यालय में प्रवेश लेने के पश्चात् अनेकों ग्रन्थों का गहन अध्ययन प्रारंभ हुआ।

अध्ययन के इसी क्रम में शास्त्री द्वितीय वर्ष के पाठ्यक्रमानुसार हरिवंश पुराण के अध्ययन का सुयोग मिला। ग्रन्थ पढ़ने पर कुछ विषय तो पूर्णतः स्पष्ट हुए, कुछ विषय किंचित् स्पष्ट हुए और कुछ विषय तो ऐसे थे, जिनके बारे में एक अक्षर भी समझ नहीं आया। ऐसे ही अनेक विषयों में एक विषय था, ''समवशरण रचना'' जिसे बारम्बार पढ़ने पर भी कुछ समझ नहीं आया, जिससे मन में समवशरण के बारे में गहराई से जानने की जिज्ञासा और बलवती हो गई।

मैंने अपने अनुज अमन जैन (आरोन) से इस बारे में कहा। भाई अमन ने भी इस विषय में अपनी रुचि प्रदर्शित करते हुए उत्साह से कहा कि हाँ भैया, समवशरण की सामान्य रचना तो ज्ञात है; परन्तु तत्संबंधी विशेष जानकारी नहीं है।

तत्पश्चात् हम दोनों ने समवशरण के संबंध में विशेष जानने के लिए बिना किसी विलम्ब के दोपहर के लगभग 12 बजे तिलोयपण्णत्ति आदि विविध ग्रन्थों तथा कुछ लेखों के माध्यम से अध्ययन प्रारंभ किया। धीरे-धीरे विषय स्पष्ट होने लगा और विषय को गहराई से समझने की उत्सुकता भी बढ़ती गई। फलस्वरूप उस दिन हम रात्रि के 12 बजे तक पढ़ते रहे।

इसके बाद तो समवशरण वर्णन मेरा रुचिकर विषय बन गया; दूसरे ही दिन मैंने आ. अन्नाजी (बा. ब्र. यशपालजी) को कण्ठ-पाठ योजना के अन्तर्गत समवशरण का सम्पूर्ण वर्णन कण्ठस्थ करके सुना दिया। अन्नाजी भी सुनकर अत्यधिक हर्षित हुए और सभा में भी सुनाओ, तो स्व-पर के लिए अत्यन्त लाभदायक रहेगा - ऐसा आदेश दिया।

यद्यपि समवशरण की रचना का वर्णन जहाँ-जहाँ ग्रन्थों में मिलता है, अधिकांश उन सभी ग्रन्थों को देखने का प्रयास किया। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी कृत 'समोशरण वर्णन' भी देखना चाहता था; परन्तु अप्रकाशित होने के कारण यह उपलब्ध नहीं हुआ। इस कृति के संबंध में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए अनेकों प्रयास करने पर भी कुछ विशेष जानकारी प्राप्त नहीं हुई। आ. छोटे दादाजी (डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल) से टोडरमलजी कृत समवशरण रचना के बारे में जिज्ञासा प्रकट की; तब उनने उत्साहवर्द्धन करते हुए कहा कि अभी डॉ. अरुणजी बण्ड इसी विषय पर प्रवचन कर रहे हैं; अतः उनसे पूछो और इस विषय पर लेखन कार्य करने के लिए भी कहो...। तब मैंने विचार किया कि

इस विषय पर गहराई से अध्ययन तो मैंने भी किया है और मैं भी इस पर लेखन कार्य कर सकता हूँ। इसप्रकार छोटे दादा की परोक्ष प्रेरणा से लेखन कार्य प्रारंभ कर दिया।

लेखन कार्य पूर्ण होने पर आदरणीय अरुणजी बण्ड को दिखाया और उनका उचित मार्गदर्शन प्राप्त किया।

इसीप्रकार यह 'समवशरण रचना वर्णन' अन्य अनेक विद्वानों को भी निरीक्षणार्थ प्रेषित किया; लगभग सभी प्रज्ञाविदों ने इसे पढ़कर अत्यन्त हर्ष प्रकट किया, जिससे मेरा आत्मबल और भी बढ़ गया। जयपुर निवासी विदुषी ज्योतिजी सेठी ने यह लेखन कार्य देखकर मुझे प्रोत्साहित किया तथा दत्तचित्तवत्ती होकर सम्पूर्ण प्रकरण का दो से तीन बार गहराई पूर्वक अवलोकन करके अनेकों महत्वपूर्ण सुझाव प्रदान किये।

तत्पश्चात् आ. बा. ब्र. कल्पना दीदी ने भी अपना अमूल्य समय देकर सम्पूर्ण प्रकरण का अनेक बार गहन निरीक्षण करके आवश्यक सुधार बतलाए तथा इस कार्य हेतु मुझे पुरस्कारित भी किया।

समवशरण के विषय को चित्रों से समझाना अधिक सुलभ होगा; परन्तु चित्र कैसे बने? इस समस्या को लेकर मैं पीयूषजी भाई साहब के पास गया और कहा -

"समवशरण रचना का वर्णन तो हो गया; परन्तु तत्संबंधी चित्रों के अभाव में पाठकों को स्वाध्याय करने में किंचित् कठिनाई का अनुभव होगा और विशेष रुचि भी जाग्रत नहीं होगी।" आपने मेरी बात का समर्थन करते हुए इस बृहद् लेख को प्रकाशित करने के लिए भी प्रेरणा दी और समय-समय पर आवश्यक निर्देश देते हुए पूर्ण सहयोग भी किया।

आ. पीयूषजी शास्त्री (कार्यालय-प्रबंधक) एवं डॉ. संजीवकुमारजी गोधा की प्रेरणा/मार्गदर्शन से पं. पीयूषकुमारजी (पत्रिका प्रबंधक) के साथ चित्र बनाना प्रारंभ किया। चित्रों को बनाने में अत्यधिक परिश्रम

एवं कठिनाई का अनुभव हुआ; क्योंकि इससे पूर्व आगमानुसार चित्र उपलब्ध ही नहीं थे। पहले तो आगम में वर्णित चित्र को अपनी परिकल्पनानुसार बनाना ही अत्यन्त श्रमसाध्य था। इससे भी अधिक श्रमसाध्य काम था computer में चित्र बनाना; क्योंकि बहुत समय व्यय करके बनाए गए चित्र भी Technical Problem के कारण एक बार में पूरे नष्ट हो जाते थे; चित्रों में निरीक्षण कर्त्ताओं के निर्देशानुसार अनेक बार सुधार भी करने पड़ते थे; तथापि पीयूषजी ने तीन महीने की दीर्घावधि में धैयपूर्वक कुल 30 चित्रों का निर्माण किया। इसीप्रकार पुस्तक को कंपरेस करने/प्रूफ कर फाईनल कॉपी तैयार करने में श्री कैलाशचन्द्रजी शर्मा (कंप्यूटर विभाग) ने भी सहजता से अपना सहयोग दिया।

डॉ. संजीवकुमारजी गोधा एवं डॉ. प्रवीणकुमारजी शास्त्री द्वारा भी इस कृति का सफलतापूर्वक निरीक्षण एवं संशोधन किया गया। पं. संजयजी शास्त्री (बड़ामलहरा) से Proof Reading और अन्य आवश्यक कार्यों संबंधी ज्ञान एवं सहयोग प्राप्त हुआ तथा मेरे सहपाठी पं. विनीतजी शास्त्री (मुम्बई) का भी सहयोग प्राप्त हुआ।

आ. शान्तिकुमारजी पाटील (प्राचार्य), आ. राकेशजी शास्त्री दिल्ली (लोनी), जिनकुमारजी (उपप्राचार्य), डॉ. दीपकजी (वैद्य), ऋषभजी (दिल्ली), चर्चितजी साथ ही समस्त गुरुजन तथा मेरे माता-पिता और दीदी, जिन्होंने मुझे इस योग्य बनाया है तथा आदरणीय परमात्मप्रकाशजी ने मेरा उत्साहवर्द्धन करते हुए इस कृति को टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित करने की सहर्ष अनुमति प्रदान की। एतदर्थ मैं आप सभी को हृदयतल से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ तथा सदैव आपका आभारी रहूँगा।

इस 'समवशरण रचना वर्णन' नामक कृति का सभी जीव अध्ययन कर वस्तुस्वरूप से परिचित हो तथा सदैव स्व-पर कल्याण में संलग्न रहें।

विषय-प्रवेश

जिनशासन के आधार स्तम्भ सर्वज्ञ भगवान हैं। जिसे सर्वज्ञ की ही श्रद्धा है, उसे ही जिन-शासन में प्रवेश लेने का अधिकार है; क्योंकि जिनशासन के नायक व शासक त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ भगवान ही हैं। भगवान सर्वज्ञ-वीतरागी तो होते ही हैं तथा कुछ सर्वज्ञ और वीतरागी के साथ-साथ हितोपदेशी भी होते हैं, जैसे - 24 तीर्थंकर और कुछ सामान्य केवली। तीर्थंकर देव समवशरण में स्थित होकर भव्य जीवों को जिन-शासन का रहस्य बतलाते हैं; समवशरण के माहात्म्य को पूर्ण रूप से प्रकट करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है।

आचार्य देव स्वयं अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि सौधर्म इंद्र की आज्ञा से कुबेर द्वारा निर्मित ऐसे समवशरण के माहात्म्य को कहने में कौन समर्थ है अर्थात् कोई भी समर्थ नहीं है; ''क्योंकि उसका उपदेश काल-वश और बुद्धि की अल्पता के कारण नष्ट हो गया है।''[1] ऐसा होने पर भी गुरु-परम्परा के द्वारा जितना उपदेश प्राप्त हुआ है, उसके अनुसार आचार्य देव ने यहाँ समवशरण के माहात्म्य का निरूपण किया है।

इसप्रकार यतिवृषभादि अनेक आचार्यों ने स्वयं ही अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए भी अपनी सामर्थ्य के अनुसार समवशरण के माहात्म्य को दिखलाया है। ऐसे समवशरण के माहात्म्य को -

1. यतिवृषभ आचार्य ने तिलोय-पण्णत्ति में,
2. आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला में,
3. आचार्य जिनसेन स्वामी (द्वितीय) ने हरिवंशपुराण में,
4. आचार्य जिनसेन स्वामी (प्रथम) ने आदिपुराण में,
5. पण्डित मेधावीजी ने धर्म संग्रह श्रावकाचार में,
6. आचार्य कल्प पण्डित टोडरमलजी ने समवशरण रचना में,

1. तिलोय पण्णत्ति, अधिकार-4, गाथा-750

7. पण्डित सदासुखदासजी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका में,

8. पण्डित चेतनदासजी ने तत्त्वार्थसूत्र वचनिका 'तत्त्वार्थसार' आदि में समवशरण के माहात्म्य का वर्णन किया है।

1. तिलोय पण्णत्ति

आचार्य यतिवृषभ देव की एकमात्र रचना तिलोय पण्णत्ति प्राप्त होती है, परन्तु आपकी अन्य रचना 'कारणस्वरूप' या 'षट्कारण' स्वरूप भी कही जाती है। तिलोय पण्णत्ति में आचार्य देव ने स्वयं ही 'करण सूत्र' अथवा 'करण गाथा' रूप में कारणस्वरूप ग्रन्थ से कुछ गाथाएँ उद्धृत की हैं; परन्तु वर्तमान में इस ग्रन्थ के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।[1] संभावित है कि तिलोय पण्णत्ति के कर्ता आचार्य यतिवृषभ देव और कषायपाहुड़ के चूर्णिसूत्र के कर्ता आचार्य यतिवृषभ देव एक ही हों; परन्तु इस संदर्भ में कुछ विशेष कथन प्राप्त नहीं होता है।

तिलोय पण्णत्ति (त्रिलोक-प्रज्ञप्ति) प्राकृत भाषा में करणानुयोग का एक प्राचीन ग्रंथ है। इस ग्रंथ में प्रसंगवश जैनसिद्धान्त, पुराण, इतिहास संबंधी भी बहुत-सी वार्ता उपलब्ध है। यह दिगम्बर साहित्य के प्राचीनतम श्रुतांग से संबंध रखता है। इसमें विषय विवरण, मतान्तर, उपदेश की व्युच्छित्ति हो जाने का बार-बार उल्लेख किया गया है तथा धवला में भी इसके विस्तृत उद्धरण पाए जाते हैं। इसप्रकार यह ग्रंथ निश्चयतः प्राचीन प्रतीत होता है।

यह ग्रंथ 9 महाधिकारों में विभाजित है - 1. सामान्य लोक का स्वरूप (2 अन्तराधिकार), 2. नारक लोक (15 अन्तराधिकार), 3. भवनवासी लोक (24 अन्तराधिकार), 4. मनुष्य लोक (16 अन्तराधिकार), 5. तिर्यग्लोक (16 अन्तराधिकार), 6. व्यन्तर

1. तिलोय पण्णत्ति, प्रस्तावना, पृष्ठ - 24

लोक (17 अन्तराधिकार), 7. ज्योतिर्लोक (17 अन्तराधिकार), 8. देव लोक (21 अन्तराधिकार), 9. सिद्ध लोक (24 अन्तराधिकार)।

काल – यद्यपि आपके काल का स्पष्ट रूप से तो उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, तथापि शोध-खोज के आधार पर आपका काल सूर्यनन्दी कृत लोक विभाग के पश्चात् और वीरसेन कृत धवला से पूर्व शक संवत् 380-738 (विक्रम सं. 515-873/ईसवी स. 458-816) के मध्य माना गया है।

इस युग में सर्वप्रथम समवशरण का वर्णन किसी ने किया है तो वे आप ही हैं अर्थात् आपने प्रस्तुत तिलोय पण्णत्ति ग्रंथ के चतुर्थ अध्याय में गाथा 705 से 894 पर्यन्त, कुल 190 गाथाओं में समवशरण का विस्तृत एवं अत्यन्त विशद वर्णन किया है। तत्पश्चात् गाथा 895 से 939 पर्यन्त कुल 45 गाथाओं में 34 अतिशय, अष्ट प्रातिहार्य एवं विहार आदि का वर्णन किया है।

इसप्रकार सम्पूर्ण वर्णन कुल 235 गाथाओं में होने से 'विस्तृत' है और स्पष्ट होने से 'अत्यन्त विशद' है। आचार्य देव प्रत्येक रचना का अंत भी "....वर्णन समाप्त हुआ" ऐसे स्पष्ट वाक्य द्वारा करते हैं, जिसकारण प्रत्येक रचना का स्वरूप समझने में सरलता होती है तथा वर्णन को और भी सरल करने के लिए आचार्य देव ने प्रारंभ में ही संपूर्ण रचनाओं के क्रम का वर्णन भी किया है; जो इसप्रकार है -

सर्वप्रथम केवलज्ञान की प्राप्ति, इन्द्रादिकों को विभिन्न संकेतों के माध्यम से सूचना का मिलना, सौधर्म इन्द्र द्वारा कुबेर को आज्ञा देना, तत्पश्चात् 4 गाथाओं में (712-715) समवशरण की रचना में आने वाले 31 अधिकारों का वर्णन करते हैं। वे निम्न प्रकार हैं -

1. सामान्य भूमि का प्रमाण (गाथा नं. 716-719),
2. सोपानों का प्रमाण (गाथा नं. 720-721),
3. विन्यास (गाथा नं. 723),

4. वीथी (गाथा नं. 724-732),
5. पहला धूलिसाल कोट (गाथा नं. 733-750),
6. पहली चैत्यप्रासाद भूमि (गाथा नं. 751-755),
7. नृत्यशाला (गाथा नं. 756-760),
8. मानस्तम्भ (गाथा नं. 761-791),
9. पहली वेदी (गाथा नं. 792-794),
10. दूसरी खातिका भूमि (गाथा नं. 795-798),
11. दूसरी वेदी (गाथा नं. 799),
12. तीसरी लता भूमि (गाथा नं. 800-801),
13. दूसरा कोट (गाथा नं. 802),
14. चौथी उपवन भूमि (गाथा नं. 803-813),
15. नृत्यशाला (गाथा नं. 815-816),
16. तीसरी वेदी (गाथा नं. 817),
17. पाँचवीं ध्वज भूमि (गाथा नं. 818-826),
18. तीसरा कोट (गाथा नं. 827),
19. छठवीं कल्पभूमि (गाथा नं. 828-837),
20. नृत्यशाला (गाथा नं. 838-839),
21. चौथी वेदी (गाथा नं. 840),
22. सातवीं भवन भूमि (गाथा नं. 841-843),
23. स्तूप (गाथा नं. 844-847),
24. चौथा कोट (गाथा नं. 848-851),
25. आठवीं श्री मण्डप भूमि (गाथा नं. 852-863),
26. ऋषि आदि गणों का विन्यास (गाथा नं. 856-855),
27. पाँचवीं वेदी (गाथा नं. 864),
28. प्रथम पीठ (गाथा नं. 865-874),

29. द्वितीय पीठ (गाथा नं. 875-883),
30. तृतीय पीठ (गाथा नं. 884-886),
31. गंधकुटी (गाथा नं. 887-894)।

इसप्रकार समवशरण की रचनाओं में कुल 31 अधिकार हैं।

इन 31 अधिकारों में सबसे विस्तृत वर्णन 'मानस्तम्भ' अधिकार का किया है तथा इन 31 अधिकारों के मध्य आचार्य देव को किसी रचना विशेष का उपदेश प्राप्त नहीं हुआ, उसका भी स्पष्ट उल्लेख "उसका उपदेश काल के वश से नदी-तीरोत्पन्न वृक्ष के समान नष्ट हो गया है।" वाक्य द्वारा किया है। ऐसा उल्लेख जिन 6 स्थानों पर किया है, वे स्थान इसप्रकार हैं -

1. धूलिसाल के मध्यम व उपरिम भाग में जो विस्तार है, उसका उपदेश काल-वश नदी-तीरोत्पन्न वृक्ष के समान नष्ट हो गया है।[1]

2. जिनपुर और प्रासादों की लम्बाई और विस्तार के प्रमाण का उपदेश नष्ट हो गया है।[2]

3. नाट्यशालाओं की लम्बाई और विस्तार का उपदेश नष्ट हो गया है।[3]

4. मानस्तम्भ की पीठों संबंधी सीढ़ियों की लम्बाई व विस्तार जिनेन्द्र भगवान ही जानते हैं अर्थात् उनका उपदेश नष्ट हो गया है।[4]

5. मानस्तम्भ संबंधी प्रथम और द्वितीय पीठों का विस्तार जिनेन्द्र

---

1. मज्झिमउवरिमभागे धूलिसाण रुंदउवएसो।
कालवसेण पणट्ठो सरितीरुप्पणविड-ओब्व।।750।। तिलोय पण्णत्ति, अधिकार-4
2. जिमपुरपासादाणं उस्सेहो णियजिणिदउदएण।
बारहदेण य सरिसो णट्ठो दीहत्तवास उवदेसो।।753।। तिलोय पण्णत्ति, अधिकार-4
3. णट्टयसालाण पुढं उस्सेहो णियजिणंभउदएहिं।
बारसहदेहिं सरिसो णट्ठा दीहत्तवास उवएसा।।757।। तिलोय पण्णत्ति, अधिकार-4
4. पीढतयस्स कमसो सोवाणं चउदिसासु एक्केक्कं।
अट्ठं चउ चउ माणं जिणजाणिददीहवित्थारं।।771।। तिलोय पण्णत्ति, अधिकार-4

देव ही जानते हैं अर्थात् उनका उपदेश नष्ट हो गया है।[1]

6. स्तूपों की लंबाई और विस्तार का उपदेश नष्ट हो गया है।[2]

इसप्रकार कुल 6 स्थानों पर आचार्य देव ने उपदेश प्राप्त नहीं होने का स्पष्ट उल्लेख किया है।

इसी के समान पाठान्तरों का भी उल्लेख किया है अर्थात् प्रस्तुत पाठ (कथन) से भिन्न अन्य पाठ (कथन) भी प्राप्त होता है। इसलिए ''ऐसा कितने ही अन्य आचार्य मानते हैं। '' वाक्य द्वारा पाठान्तरों का भी उल्लेख किया है। ऐसे पाठान्तर कुल 4 स्थानों पर प्राप्त होते हैं, जैसे –

1. केवल विदेह क्षेत्र में सर्व तीर्थंकरों का समवशरण 12 योजन प्रमाण होता है; परन्तु यहाँ 15 कर्मभूमियों में प्रथम तीर्थंकर का ही समवशरण 12 योजन प्रमाण होता है। उनके बाद अन्य तीर्थंकरों का समवशरण क्रमशः घटता जाता है।

''परन्तु कोई आचार्य 15 कर्मभूमियों में उत्पन्न हुए तीर्थंकरों की समवशरण भूमियों को 12 योजन प्रमाण मानते हैं।''[3]

2. सीढ़ियों से चढ़कर गोपुर-द्वार के आगे महावीथी का विस्तार 1 योजन (4 कोस) है।

''परन्तु कुछ आचार्य 2 कोस प्रमाण महावीथियों का विस्तार है तथा वीर जिनेन्द्र पर्यंत क्रमशः हीन होता है – ऐसा मानते हैं।''[4]

3. मानस्तम्भ की ऊँचाई तीर्थंकर के शरीर से 12 गुना होती है

1. पढमाणं विदियाणं वित्थारं माणाथंभपीढाणं।
जाणेदि जिणेंदो त्ति य उच्छिण्णो अम्ह उवएसो।।772।। तिलोय पण्णत्ति, अधिकार-4

2. दीहत्तरुंदमाणं ताणं संपइ पणट्ठ उवएसं।
भव्वा अभिसेयच्चणपदाहिणं तेसु कुव्वंति ।।847।। तिलोय पण्णत्ति, अधिकार-4

3. इह केई आइरिया पण्णारस कम्मभूमिजादाणं।
तित्थयराणं बारस जोयण परिमाण मिच्छंति।।719।। तिलोय पण्णत्ति, अधिकार-4

4. एक्केक्काणं दोद्दो कोसा वीहीण रुंदपरिमाणं।
कमसो हीणं जाव य वीरजिणं के वि इच्छंति।।725।। तिलोय पण्णत्ति, अधिकार-4

अर्थात् 6000 धनुष प्रमाण ऊँचे होते हैं।

''परन्तु ऋषभदेव के समवशरण में मानस्तम्भ की ऊँचाई 1 योजन से कुछ अधिक थी तथा शेष तीर्थंकरों के मानस्तम्भों की ऊँचाई क्रमशः हीन होती गई है, ऐसा कितने ही आचार्य मानते हैं।''[1]

4. पहला धूलिसाल कोट, पहली चैत्यप्रासाद भूमि, पहली वेदी और दूसरी खातिका भूमि, इन सबका विस्तार कुल 1 योजन प्रमाण है।

''परन्तु कोई-कोई आचार्य चैत्यप्रासाद भूमि को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके उपदेशानुसार भगवान ऋषभदेव के समवशरण में खातिका भूमि ही 1 योजन प्रमाण है तथा शेष तीर्थंकरों के क्रमशः हीन होती जाती है।''[2]

इसप्रकार आचार्य देवयतिवृषभ ने 4 स्थानों पर पाठान्तरों का उल्लेख किया है, परन्तु किसी भी आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया है, तथापि उपर्युक्त पाठान्तरों में से अन्तिम 1 पाठान्तर आदिपुराण में और अंतिम 3 पाठान्तर हरिवंशपुराण में प्राप्त होते हैं। जैसे –

1. हरिवंशपुराण के 57वें सर्ग के 10वें श्लोक में कहा है कि –

महादिक्षु चतस्रोस्या गव्यूतिद्वयविस्तृताः।।10।।

अर्थात् इस भूमि की चारों दिशाओं में 2-2 कोस विस्तृत 4 महावीथियाँ होती हैं।

2. इसी सर्ग के 14वें श्लोक में कहा है कि –

गपोनपीठिकाव्यासा योजनाभ्यधिकोच्छ्रयाः।
शुम्भिता मानवस्तम्भाश्चत्वारः पीठिकास्वधि।।14।।

अर्थात् उन पीठिकाओं के ऊपर चार मानस्तम्भ सुशोभित होते हैं।

1. जोयणमधियं उदयं माणत्थंभाण उसहसामिम्मि।
कमहीणं सेसेसु एवं केई परूवेंति।।778।। तिलोय पण्णत्ति, अधिकार-4

2. चेत्तप्पासादखिदिं केई णेच्छंति ताण उवएसे।
खाईयाखिदीय जोयण मुसहे सेसेसु कमहीणं।।798।। तिलोय पण्णत्ति, अधिकार-4

जो पीठिकाओं की चौड़ाई से 1 धनुष कम चौड़े होते हैं और 1 योजन से कुछ अधिक ऊँचे होते हैं।

3. मानस्तम्भ के वर्णन के पश्चात् सीधे परिखा (खातिका भूमि) का ही वर्णन किया है, चैत्यप्रासाद भूमि का भी वर्णन नहीं किया है अर्थात् चैत्यप्रासाद भूमि को स्वीकार नहीं किया है और आदिपुराण में भी इस पहली चैत्यप्रासाद भूमि का वर्णन नहीं किया है। मानस्तम्भ के पश्चात् सीधे परिखा भूमि का ही वर्णन किया है; अतः स्पष्ट है कि चैत्यप्रासाद भूमि को स्वीकार नहीं किया है।

इसप्रकार ये 3 पाठान्तर हरिवंशपुराण और आदिपुराण में प्राप्त होते हैं; परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य पाठान्तर भी प्राप्त होते हैं, जिनका उल्लेख आचार्य यतिवृषभ देव ने नहीं किया है। जैसे –

1. तिलोय पण्णत्ति में कोटों की संख्या 4 बतलाई गई है; परन्तु 'हरिवंशपुराण'[1] और 'आदिपुराण'[2] में कोटों की संख्या 3 बतलाई गई है, परन्तु इन तीन कोटों में धूलिसाल कोट को शामिल नहीं किया है।

2. तिलोय पण्णत्ति में खातिका भूमि और लता भूमि के मध्य में स्थित द्वितीय वेदी का उल्लेख है; परन्तु हरिवंशपुराण और आदिपुराण में इस द्वितीय वेदी का उल्लेख नहीं है।

3. तिलोय पण्णत्ति[3] में मानस्तम्भ की चौड़ाई 998 धनुष प्रमाण बतलाई है; परन्तु हरिवंशपुराण[1] में मानस्तम्भ की चौड़ाई 999 धनुष

1. शालास्त्रयोऽप्यमी त्वेकद्वित्रिक्रोशोच्छ्र्योंमिताः।
मूलमध्योपरिव्यासैस्तदर्घार्घैसुसंमिताः।।64।। हरिवंशपुराण, सर्ग–57
2. गदादिपाणयस्तेषु गोपुरेष्वभवन् सुराः।
क्रमात् सालत्रये द्वाःस्था भौम भावनकल्पजाः।।276।। आदिपुराण, पर्व–22
3. तिलोय पण्णत्ति, अधिकार–4, गाथा–755, 776

प्रमाण बतलाई है।

4. तिलोय पण्णत्ति में नाट्यशालाओं के विस्तार का प्रमाण नहीं बताया गया है, परन्तु हरिवंशपुराण[2] में उपवन भूमि की नाट्यशालाओं का विस्तार 1.50 कोस प्रमाण बतलाया है।

5. तिलोय पण्णत्ति में महाध्वजाओं की संख्या 4,320; क्षुद्रध्वजाओं की संख्या 4,66,460 और समस्त ध्वजाओं की संख्या 4,70,780 बतलाई है, परन्तु हरिवंशपुराण[3] में समस्त ध्वजाओं की संख्या 4,66,56,000 बतलाई है।

6. तिलोय पण्णत्ति में ध्वजाओं के स्तम्भों की ऊँचाई 6000 धनुष[4] और चौड़ाई 21,333 अंगुल [5] बतलाई है; परन्तु हरिवंशपुराण[6] में स्तम्भों की ऊँचाई आधा योजन और चौड़ाई 3 धनुष बतलाई है तथा आदिपुराण[7] में स्तम्भों की चौड़ाई 28 अंगुल बतलाई है।

इसप्रकार तिलोय पण्णत्ति, हरिवंशपुराण और आदिपुराण में कुछ स्थानों पर पाठ-भेद भी प्राप्त होते हैं।

कथन शैली – सरल, सुबोध और प्रवाहमयी है। यद्यपि आचार्य

1. हरिवंशपुराण 57/14
2. अध्यर्धक्रोशविस्तारा द्वात्रिंशज्ज्योतिषां स्त्रियः।
तद्भुवो रत्ननिर्माणाः स्वच्छस्फटिकभित्तय।।39।। हरिवंशपुराण, सर्ग–57
3. षट्पञ्चाशत्सहस्राणि लक्षा षट्षष्टिरष्टसु।
ध्वज कोट्यश्चतस्त्रः स्युश्चतुर्दिक्ष्वपि साधिकाः।।47।। हरिवंशपुराण, सर्ग–57
4. संलग्गा सयलघया कणयत्थंभेसु रयणखचिदेसु।
थंभुच्छेदो णियणियजिणाण उदएहिं बारसहदेहिं।।821।। तिलोय पण्णत्ति, अधिकार–4
5. उसहम्मि थंभरुंदं चउसट्ठी अधियदुसयपव्वाणि।
तियभजिदाणिं कमसो एक्करसूणाणि णेमिपरियंतं।।822।। तिलोय पण्णत्ति, अधिकार–4
6. त्रिदण्डविस्तृताश्चित्राः पीठिकाः प्रतिभक्तिगाः।
योजनार्धोच्छ्रतास्तासु वंशा रत्नात्मपूर्वकाः।।42।। हरिवंशपुराण, सर्ग–57
7. अष्टाशीत्यंगुलान्येषां रुन्द्रत्वं परिकीर्तितम्।
पञ्चविंशतिकोदण्डान्यमीषामन्तरं विदुः।।213।। आदिपुराण, पर्व–22

देव की सम्पूर्ण रचना सरल शैली में होने से सरलता पूर्वक समझ में आ जाती है; तथापि रचनाओं के प्रमाणादि को समझने में किंचित् कठिनाई होती है। जैसे –

''धूलिसाल का मूल विस्तार बारह (12) के वर्ग से भाजित चौबीस (24) कोस प्रमाण है अर्थात् 0.1666 कोस प्रमाण है।''[1]

इसप्रकार सरल पद्धति से किसी भी रचना का प्रमाण स्पष्ट नहीं किया है तथा यह प्रमाण प्रत्येक तीर्थंकर के समवशरण में समान नहीं होता है; अतः आचार्य देव ने प्रत्येक तीर्थंकर के समवशरण में स्थित रचनाओं के प्रमाण का भी पृथक् रूप से उल्लेख किया है। यथा –

''इस धूलिसाल कोट की ऊँचाई 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान पर्यन्त भाज्य राशि में से एक-एक कम होती जाती है।''[2]

इसप्रकार 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान पर्यन्त के समवशरण में स्थित रचनाओं की ऊँचाई आदि समान रूप से हीन-हीन होती हैं; अतः उनका कथन एक साथ ही किया है तथा नेमिनाथ भगवान के बाद पार्श्वनाथ और महावीर भगवान के समवशरण में स्थित रचनाओं की ऊँचाई आदि अधिक हीन हुई है; अतः उनका उल्लेख भी पृथक् से किया है। जैसे –

''पार्श्वनाथ भगवान के समवशरण में धूलिसाल कोट का मूल विस्तार दो सौ अठासी (288) से भाजित 5 कोस (5/288=0.01736) और वर्धमान भगवान के बहत्तर (72) से भाजित एक कोस (1/72=0.01389) प्रमाण है।''[3]

इस भाँति आचार्य देव ने सम्पूर्ण रचनाओं का प्रमाण इसी पद्धति

1. चउवीसं चेय कोसा धूलिसालाण मूलवित्थारा।।748।। तिलोय पण्णत्ति, अधिकार-4
2. बारसवग्गेण हिदा णेमिजिणंतं कमेण एक्कूणा।।748।। तिलोय पण्णत्ति, अधिकार-4
3. अडसीदिदोसएहिं भजिदा पासम्मि च कोसा य।
एक्को य वड्ढमाणो कोसो बाहत्तरीहरिदो।।749।। तिलोय पण्णत्ति, अधिकार-4

से बताया है तथा रचना के अन्त में ''धूलिसाला समाप्ता'' वाक्य द्वारा समापन किया है।

इसप्रकार आचार्य यतिवृषभ देव ने तिलोय पण्णत्ति ग्रंथ में विस्तृत एवं अत्यन्त विशदरूप से समवशरण के माहात्म्य को स्पष्ट किया है।

2. धवला

आचार्य वीरसेन स्वामी कृत धवला, षट्खण्डागम ग्रंथ की टीका और जैन सिद्धान्त (करणानुयोग) का सबसे विशाल ग्रंथ है। वर्तमान समय में यह धवल ग्रंथ 16 पुस्तकों में प्रकाशित है। आचार्य वीरसेन स्वामी ने सम्पूर्ण वर्णन 20 प्ररूपणाओं के माध्यम से किया है। यहाँ पुस्तक 8, खण्ड 4, भाग 1, सूत्र 44 में तीर्थंकर प्रकृति का निरूपण करते हुए क्षेत्र प्ररूपणा के अंतर्गत समवशरण का वर्णन किया है।

यह वर्णन भी 'तीर्थंकर की उत्पत्ति किस क्षेत्र में हुई है?' (तित्थुप्पत्ती कम्हि खेत्ते?) इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप ही किया है। सर्वप्रथम समवशरण को सूर्यमण्डल की उपमा देते हुए क्रमशः धूलीसाल कोट, 4 गोपुर द्वार, मानस्तम्भ, वापिका, नवनिधि, अष्टमंगल द्रव्य, खातिका, 4 महावीथी, वल्लीवन, धवल गोपुर द्वारों से युक्त वनवेदी, 4 महावीथी, ध्वज भूमि, स्वर्णमय 4 गोपुर द्वार, 4 महावीथी, कल्पभूमि, सातवीं भूमि, 9 स्तूप, 4 गोपुर द्वार, आठवीं भूमि, 12 सभा, कटनी, प्रभामण्डल, पुष्पवृष्टि, वादित्र, अशोकवृक्ष, 3 छत्र, 64 चमर, गन्धकुटी और सिंहासन का वर्णन किया है।

इसप्रकार समवशरण में स्थित सभी रचनाओं का वर्णन सामान्य रूप से ही किया है, जैसे – रचनाओं का वर्णन करते समय रचना का नाम, आकार आदि का उल्लेख नहीं किया है। मात्र 2 स्थानों पर ही रचनाओं का विस्तार बताया है। पहला समवशरण का विस्तार और

दूसरा छत्रों का विस्तार। इसप्रकार कुल 2 रचनाओं के ही विस्तार का वर्णन किया है।

आचार्य देव ने कोट और वेदी का भी पृथक्-पृथक् उल्लेख नहीं किया है; मात्र कोट और वेदी को 'मर्यादावाला' इस शब्द से अभिहित किया है। मात्र 2 स्थानों पर 'वनवेदी' शब्द का प्रयोग किया है। इन कोट और वेदियों को उनके पूर्व-पूर्व की भूमियों का ही भाग बतलाया है, इसप्रकार निरूपण किया है।

आचार्य वीरसेन स्वामी ने भी आचार्य जिनसेन स्वामी (द्वितीय) के समान ही चैत्यप्रासाद नाम की पहली भूमि का उल्लेख नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य जिनसेन स्वामी ने आचार्य वीरसेन स्वामी का अनुकरण किया है; जिनसेन स्वामी के गुरु वीरसेन स्वामी ही हैं तथा आचार्य देव ने पृथक् रूप से किसी भी भूमि का नाम और संख्या का उल्लेख नहीं किया है।

वीथियों में स्थित प्रत्येक गोपुर द्वार का वर्णन एक समान होने पर भी पृथक्-पृथक् ही किया है।

इसप्रकार आचार्य देव ने प्रश्न के उत्तर स्वरूप 5 पृष्ठों (109-113)[1] के मध्य एक ही वाक्य में सरल एवं सुबोध प्राकृत भाषा में समवशरण का संक्षिप्त वर्णन किया है।

3. हरिवंशपुराण

आचार्य जिनसेन स्वामी (द्वितीय) कृत हरिवंशपुराण में भगवान नेमिनाथ का चरित्र-चित्रण किया है। यह सम्पूर्ण वर्णन 66 सर्गों के मध्य है। इसमें सबसे पहले काल, 3 लोक आदि, वंशोत्पत्ति, नेमिनाथ के माता-पिता, श्रीकृष्ण, नेमिनाथ आदि का वर्णन किया। नेमिनाथ भगवान के केवलज्ञान कल्याणक का वर्णन करने के बाद 57वें सर्ग में 183 श्लोकों

1. धवला पुस्तक-9, पृष्ठ-109-113

में समवशरण रचना का वर्णन बहुत ही संक्षेप में किया है; किन्तु किंचित् अस्पष्ट भी है तथा 59वें सर्ग में 134 श्लोकों में अष्ट प्रातिहार्य और भगवान के विहार का विस्तृत वर्णन किया है।

यहाँ मूल प्रयोजन समवशरण का वर्णन करना नहीं था; अतः सम्पूर्ण वर्णन अति संक्षेप में ही किया है। इसीलिए अति संक्षेप होने के कारण पूर्ण रूप से स्पष्ट भी नहीं हो पाया है और तिलोय पण्णत्ति आदि ग्रन्थों में उपलब्ध वर्णन की अपेक्षा तो यहाँ संक्षेप में किया ही है; परन्तु साथ ही अनेक स्थानों पर विशेष वर्णन भी किया है। जैसे -

1. समवशरण की दिव्य भूमि स्वाभाविक भूमि से 1 हाथ ऊँची होती है और उससे 1 हाथ ऊपर कल्पभूमि होती है।[1]

2. जिसमें मान के योग्य इंद्रादि देव त्रिलोकी नाथ की दूर से ही पूजा करते हैं, वह मानांगण नाम की भूमि है।[2]

3. मानस्तम्भ के भाग में आस्थानांगण भूमि है। जहाँ स्थित होकर मनुष्य और देव मानस्तम्भ की पूजा करते हैं तथा वह आस्थानांगण भूमि देदीप्यमान लाल मणियों की कान्ति को धारण करती है।[3]

4. वीथियों के मध्य में मानस्तम्भ की पीठिका 3 कटनीदार, स्वर्णमयी होती है तथा छाती बराबर ऊँची और आधा कोश चौड़ी होती है।[4]

5. प्रत्येक मानस्तम्भ 2000 धाराओं सहित होते हैं और इनके

1. भूमेः स्वभावभूताया दिव्यारत्निप्रमोच्छ्रितिः।
भूमिस्तावत्समुच्छ्राया कल्पभूमिरुपर्यतः।।5।। हरिवंशपुराण, सर्ग-57
2. दूरादिन्द्रादयो यस्यां मानयन्ति नमस्यया।
मानार्हास्त्रिजगन्नाथं साभूर्मानांगणामिधा।।9।। हरिवंशपुराण, सर्ग-57
3. नृसुरामानवस्तम्भानास्थायार्चन्ति यत्र भूः।
सा त्वास्थानांगणामिख्या ज्वलल्लौहितरत्नभा।।12।। हरिवंशपुराण, सर्ग-57
4. मध्ये वीथि चतस्रोऽत्र त्रिभंगा हैमपीठिकाः।
भान्त्युरोद्वयसोच्छ्राया: वृत्ताः क्रोशार्धविस्तृताः।।13।। हरिवंशपुराण, सर्ग-57

ऊपर चारों दिशाओं में सिद्ध प्रतिमाएँ विराजमान होती हैं।[1]

6. उपवन भूमि के अशोकादि चारों वनों में अशोकादि चैत्यवृक्षों पर सिद्ध प्रतिमा ही विराजमान हैं।[2]

7. चौथी उपवन भूमि की 1 दिशा में नाम सहित 6-6 वापिकाओं का तथा उनसे मिलने वाले फलों का भी उल्लेख किया है।[3]

8. दूसरे कोट के गोपुर-द्वार के आगे 2-2 मंगल कलश रखे हैं।

9. चारों दिशाओं के प्रारम्भ के 8-8 गोपुर-द्वारों के नामों का उल्लेख किया है।

10. गोपुर-द्वार के पीछे दर्पण नामक मंगल द्रव्य में जीवों को अपने पूर्व भव दिखलाई देते हैं।[4]

11. दूसरे, तीसरे और चौथे कोट की ऊँचाई क्रमशः 1-2-3 कोस है तथा मूल मध्यम और उपरिम भाग में इनकी ऊँचाई से अधिक चौड़ाई होती है।[5]

12. कोटों के ऊपर बंदर के सिर के आकार के कंगूरे, एक हाथ और एक विलस्ति चौड़े तथा आधा वेमा ऊँचे होते हैं।[6]

13. महावीथी में सातवीं भूमि के पार्श्व भागों में कल्याणजय

1. द्विसहस्राश्रयो नानारत्नरश्मिविमिश्रिताः।
चतुर्दिक्षूर्ध्वसिद्धार्चाः रत्नभूतोरुपालिकाः।।16।। हरिवंशपुराण, सर्ग-57
2. ससिद्धप्रतिमोऽशोकः सप्तपर्णश्च चम्पकम्।
तथैवाम्रतरुतेषां वनानामधिपाः क्रमात्।।29।। हरिवंशपुराण, सर्ग-57
3. हरिवंशपुराण - 57/32-36
4. सुरत्नासनमध्यस्था द्रष्टृणां भवदर्शिनः।
तद्द्वारोमयपार्श्वेषु भान्ति मंगलदर्पणाः।।61।। हरिवंशपुराण, सर्ग-57
5. शालास्त्रयोऽप्यमी त्वेकद्वित्रिक्रोशोच्छ्रयोन्मिताः।
मूलमध्योपरिव्यासैस्तदर्घार्घसुसंमिताः।।64।। हरिवंशपुराण, सर्ग-57
6. स्वरत्नत्रयहीनोक्त प्रमाणजगतीतलाः।
हस्तोद्विद्धाक्षविस्तीर्णव्यामार्धकपिशीर्षकाः।।65।। हरिवंशपुराण, सर्ग-57

तथा जयांगण नामक आँगन का उल्लेख किया है।[1]

14. आठवीं भूमि में स्थित श्री मण्डप को 'महोदय मण्डप' कहा है तथा वह मण्डप 1000 स्तम्भों पर खड़ा हुआ है।[2]

15. महोदय मण्डप से आधे विस्तार वाले 4 परिवार मण्डप हैं, जिनमें कथा कहने वाले पुरुष आक्षेपिणी आदि कथाएँ कहते हैं।[3]

16. गणधर देव तीर्थंकर को दाहिने भाग में करके श्रुत का व्याख्यान करते हैं।[4]

17. केवलज्ञान आदि ऋद्धियों के धारक मुनिगण फुटकर स्थानों (सभाग्रहादि) पर वस्तु स्वरूप का निरूपण करते हैं।[5]

18. लोकादि 11 स्तूपों का विस्तार से निरूपण किया है।[6]

19. पीठों की परिधि के बाहर की ओर 17 कर्णिकाएँ हैं और भीतर की ओर एक कर्णिका है।[7]

20. वहाँ आठवीं भूमि में गणधर के द्वारा इच्छा करते ही एक दिव्य-पुर बन जाता है और यह दिव्य-पुर त्रिलोकसार आदि 85 नामों से कहा जाता है।[8]

21. इस दिव्य-पुर नामक नगर का निर्माण यथास्थान 26 प्रकार

1. हरिवंशपुराण - 57/75-78
2. ततः स्तम्भसहस्रस्थो मण्डपोऽस्ति महोदयः।
नाम्ना मूर्तिमती यत्र वर्तते श्रुतदेवता।।86।। हरिवंशपुराण, सर्ग-57
3. तदर्धमानाश्चत्वारस्तत्परीवारमण्डपाः।
आक्षेपण्यादयोः येषु कथयन्ते कथकैः कथाः।।88।। हरिवंशपुराण, सर्ग-57
4. तां कृत्वा दक्षिणे भागे धीरैर्बहुश्रुतैर्वृतः।
श्रुतं व्याकुरुते यत्र श्रायसं श्रुतकेवली।।87।। हरिवंशपुराण, सर्ग-57
5. तत्प्रकीर्णकवासेषु चित्रेष्वाचक्षते स्फुटम्।
ऋषयः स्वेष्टमर्थिभ्यः केवलादिमहर्द्धयः।।89।। हरिवंशपुराण, सर्ग-57
6. हरिवंशपुराण - 57/94-106
7. हरिवंशपुराण - 57/109
8. हरिवंशपुराण - 57/111-122

के स्वर्ण और मणियों से चित्र-विचित्र रूप में होता है।[1]

22. इस नगर के बाद 3 जगतियों का भी उल्लेख किया है, जो ध्वजाओं, कूट, कोष्ठक और द्वारपालों के आवास स्थानों से युक्त हैं तथा वहाँ अनेक मण्डप स्थित हैं।[2]

इसप्रकार आचार्य जिनसेन स्वामी (द्वितीय) ने कुल 22 स्थानों पर विशेष कथन किया है, जो अन्यत्र प्राप्त नहीं होता है।

उपर्युक्त 22 बिन्दुओं में से 1 से 14 तक तथा 16 से 18 क्रमांक के बिन्दुओं का तो स्पष्ट रूप से वर्णन किया है, परन्तु 15, 19 से 22 बिन्दुओं का कथन अस्पष्ट ही है अर्थात् 4 परिवार मण्डप, कर्णिकाएँ, दिव्य-पुर और 3 जगती, इनकी रचना समवशरण की आठवीं भूमि में किस स्थान पर स्थित है, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है; अतः इन 4 रचनाओं को आगे 'समवशरण का माहात्म्य' में निरूपित नहीं किया गया है।

तिलोय पण्णत्ति में जो 31 अधिकार कहे हैं, उनका भी यहाँ यथाक्रम वर्णन नहीं हैं तथा कुछ अधिकारों का वर्णन तो दो-दो बार भी है और कुछ अधिकारों का वर्णन ही नहीं है। जैसे -

सामान्य भूमि (श्लोक- 5-8),
मानस्तम्भ (श्लोक- 9-19),
परिखा (खातिका भूमि) (श्लोक- 20-22),
लता भूमि (श्लोक- 22-23),
कोट (दूसरा) (श्लोक- 24-27),
उपवन भूमि (श्लोक- 28-40),
वेदी (श्लोक- 41),

1. हरिवंशपुराण - 57/125
2. हरिवंशपुराण - 57/126-137

ध्वज भूमि (श्लोक- 41-47),
कोट (तीसरा) (श्लोक- 48-52),
कल्पभूमि (श्लोक- 53),
वेदी (श्लोक- 54),
9 स्तूप (श्लोक- 54),
भवन भूमि (श्लोक- 55),
कोट (चौथा) (श्लोक- 55-56),
कल्याण-जयांगण (श्लोक- 66-69),
पुनः छठवीं भूमि (श्लोक- 70),
पुनः सातवीं भूमि (श्लोक- 71-82),
पुनः जयांगण (श्लोक- 83-85),
आठवीं श्री मण्डप भूमि (श्लोक- 86-89),
पुनः 11 स्तूप (श्लोक- 94-107),
कर्णिका (श्लोक- 108-110),
दिव्यपुर (श्लोक- 111-125),
3 जगती (श्लोक- 126-137),
3 पीठ (श्लोक- 140-144),
12 सभा (श्लोक- 145-161),
अष्ट प्रातिहार्य (श्लोक- 162-169),

अंत में समवशरण में इंद्रादि का प्रवेश किस प्रकार होता है और स्तुति आदि करने की क्या विधि है? इनका निरूपण भी किया है।

इसप्रकार आचार्य जिनसेन स्वामी (द्वितीय) ने हरिवंशपुराण में अत्यन्त संक्षेप में समवशरण की रचना का वर्णन किया है।

इसके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य जिनसेन स्वामी

की गुरु परम्परा आचार्य यतिवृषभ देव से भिन्न होगी। इसी कारण हरिवंशपुराण में विभिन्नता व नवीनता है। यह सम्पूर्ण वर्णन जटिल, गंभीर और अप्रवाहमयी शैली में किया गया है तथा सरलता से समझ में नहीं आने के कारण इसके अध्ययन में विशेष उपयोग की आवश्यकता अनिवार्य रूप से महसूस हुई है।

4. आदिपुराण

आचार्य जिनसेन स्वामी (प्रथम) कृत आदिपुराण में काल, कुलकर, ऋषभदेव तीर्थंकर, भरत चक्रवर्ती, बाहुबली कामदेव आदि का वर्णन है। ऋषभदेव के केवलज्ञान कल्याणक के वर्णन के पश्चात् 22वें सर्ग में 257 श्लोकों में समवशरण के माहात्म्य का अत्यन्त विस्तृत रूप से अत्यधिक स्पष्ट एवं सजीव चित्रण किया है तथा 23वें पर्व में अष्ट प्रातिहार्यों का वर्णन और 25वें पर्व में 40 श्लोकों में भगवान के विहार का वर्णन किया है।

आचार्य देव ने यह सम्पूर्ण वर्णन तिलोय पण्णत्ति की टीका स्वरूप ही लिखा हो ऐसा प्रतिभासित होता है तथा इस वर्णन को पढ़ते समय पाठक के मन में चित्र-संरचना होने लगती है, मानो ऐसा प्रतीत होता है कि पाठक साक्षात् ही समवशरण में विहार कर रहा हो, इसप्रकार सजीव चित्रण किया है तथा प्रत्येक रचना को किसी न किसी प्रकार की उपमा देते हुए, उसे सांगरूपक घटित भी किया है। जैसे -

तिलोय पण्णत्ति में उपवन भूमि का वर्णन करते हुए कहा है कि -

विविहवणसंमंणविविहणईपुलिणकीडणमिरीहिं।
विविहवरवाविआहिं उववणभूमीउ रम्माओ।।804।।

अर्थात् यह उपवन भूमि विविध प्रकार के वन समूह से मण्डित, विविध नदियों के पुलिंद, क्रीड़ा पर्वतों से तथा अनेक प्रकार की उत्तम

वापिकाओं से रमणीय है।

इसकी टीका स्वरूप और उपमाओं सहित सजीव चित्रण करते हुए आचार्य जिनसेन स्वामी (प्रथम) आदिपुराण में लिखते हैं -

हारिमेदुरमुन्निद्रकुसुमं सश्रि कामदम्।
सुकलत्रमिवासीत्तत् सेव्यं वनचतुष्टयम्।।178।।
अपास्तातपसंबंधं विकसत्पल्लवाञ्चितम्।
पयोधरस्पृगामासि तत्स्त्रीणामुत्तरीयवत्।।179।।

1. "वे वृक्ष उत्तम स्त्रियों के समान ही मनोहर हैं, मेदुर/अतिशय चिकने हैं, उन्नीद्र-कुसुम अर्थात् खिले हुए फूलों से सहित हैं; जैसे स्त्री ऋतुधर्म से सहित होती है। सुश्र अर्थात् शोभा से युक्त है। ये कामद अर्थात् इच्छित पदार्थ को देने वाले हैं।

2. जिसप्रकार स्त्रियों का उत्तरीय वस्त्र आतप की बाधा को नष्ट कर देता है, उसीप्रकार वनों ने भी आतप की बाधा को नष्ट कर दिया है।

3. जिसप्रकार उत्तरीय वस्त्र उत्तम पल्लव अर्थात् आँचल से सुशोभित होता है; उसीप्रकार वे वन भी उत्तम पल्लव अर्थात् नवीन कोमल पत्तों से सुशोभित होते हैं।

4. जिसप्रकार उत्तरीय वस्त्र, पयोधर अर्थात् स्तनों का स्पर्श करता है; उसीप्रकार वे वन भी ऊँचे होने के कारण पयोधर अर्थात् मेघों का स्पर्श करते हैं।"

आचार्य देव ने इसीप्रकार सभी रचनाओं का वर्णन अनेक प्रकार की उपमाओं के माध्यम से किया है तथा जिसप्रकार हरिवंशपुराण में रचनाओं के संबंध में किंचित् भिन्नता थी; उसीप्रकार यहाँ आदिपुराण में भी तिलोय पण्णत्ति के कथन से किंचित् भिन्नता देखने को मिलती है। जैसे -

1. कोटों की संख्या 3 मानी है। (तथापि कोई आपत्ति नहीं है;

क्योंकि धूलिसाल कोट को इन तीन कोटों में शामिल नहीं किया है। उसका वर्णन पृथक् से ही किया है।)[1]

2. मानस्तम्भ के बाद खातिका भूमि और खातिका भूमि के बाद सीधे लता भूमि का वर्णन किया गया है अर्थात् पहली चैत्यप्रासाद भूमि, पहली वेदी, दूसरी वेदी का वर्णन नहीं किया है। शेष वर्णन यथाक्रम किया है।

3. पाँचवीं ध्वजभूमि में स्तम्भों की मोटाई 28 अंगुल कही है[2]; परन्तु तिलोय पण्णत्ति में स्तम्भों की मोटाई 21.333 अंगुल कही है।[3]

4. छठवीं कल्पभूमि[4] और सातवीं भवन भूमि[5] दोनों ही भूमियों में सभागृह का वर्णन है, परन्तु हरिवंशपुराण में मात्र सातवीं भूमि में सभागृह का वर्णन है[6] तथा तिलोय पण्णत्ति में तो सभागृह का वर्णन ही नहीं है।

इसप्रकार आदिपुराण में तिलोय पण्णत्ति से मात्र 4 स्थानों पर ही भिन्नता देखने को मिलती है तथा कुछ वर्णन हरिवंशपुराण के समान हैं जो निम्नप्रकार हैं –

1. हरिवंशपुराण में मानस्तम्भ के बाद सीधे परिखा का वर्णन किया है। आदिपुराण में भी इसीप्रकार वर्णन किया है।

2. दोनों में खातिका भूमि को परिखा कहा है।

1. गदादिपाणयस्तेषु गोपुरेष्वभवन् सुराः।
क्रमात् सालत्रये द्वाःस्था भौम भावनकल्पजाः।।276।। आदिपुराण, पर्व-22

2. आदिपुराण - 22/213

3. तिलोय पण्णत्ति - 4/833

4. क्वचिद् वाप्यः क्वचिन्नद्यः क्वचित् सैकतमण्डलम्।
क्वचित्सभाग्रहादीनि बभुरत्र वनान्तरे।।253।। आदिपुराण, पर्व-22

5. कूटागारसभागेहप्रेक्षाशालाः क्वचिद् विभुः।
सशय्याः सासनास्तुंगसोपानाः श्वेतिताम्बराः।।260।। आदिपुराण, पर्व-22

6. पद्मरागमहास्तूपपर्यन्तेषु सभागृहाः।
हेमरत्नमयाश्चित्रा मुनिदेवगणोचिताः।।55।। हरिवंशपुराण, सर्ग-57

3. दोनों में कोटों की संख्या 3 ही स्वीकार की गई है।

4. दोनों में भगवान के विहार का वर्णन पृथक् अध्याय में ही किया है।

इसप्रकार आदिपुराण का कुछ वर्णन हरिवंशपुराण के अनुसार है तथा शेष वर्णन तिलोय पण्णत्ति के अनुसार ही किया है।

इसप्रकार आचार्य जिनसेन स्वामी (प्रथम) ने आदिपुराण में सरल, सुबोध और प्रवाहमयी शैली में तथा उपमा और रूपक अलंकार के अत्यधिक प्रयोग द्वारा समवशरण की रचना का माहात्म्य प्रदर्शित किया है।

यहाँ एक **प्रश्न** संभव हो सकता है कि जब यहाँ कालक्रम के अनुसार वर्णन किया जा रहा है तो यहाँ हरिवंशपुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन स्वामी (द्वितीय) का वर्णन पहले क्यों किया है? आदिपुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन स्वामी (प्रथम) पहले ही हुए हैं; अतः उनका वर्णन पहले होना चाहिए था?

उत्तर – आपका कहना एकदम सही है कि हरिवंशपुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन स्वामी (द्वितीय) बाद में हुए हैं; अतः उनका कथन बाद में होना चाहिए था और आदिपुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन स्वामी (प्रथम) का वर्णन पहले होना चाहिए था; परन्तु यहाँ आचार्यों के काल-क्रमानुसार वर्णन नहीं किया गया है, अपितु रचनाओं के काल-क्रमानुसार वर्णन किया है; अतः हरिवंशपुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन स्वामी (द्वितीय) का वर्णन पहले किया है और आदिपुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन स्वामी (प्रथम) का वर्णन बाद में किया है।

आचार्य जिनसेन स्वामी (द्वितीय) ने हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन स्वामी (प्रथम) की दो रचनाओं का उल्लेख किया है। पहली 'पार्श्वाभ्युदय' और दूसरी 'वर्धमान पुराण'। इससे तो यही सिद्ध होता

है कि आदिपुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन स्वामी पहले हुए हैं; अतः आपके नाम के आगे 'प्रथम' विशेषण जोड़ा जाता है और हरिवंश पुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन स्वामी बाद में हुए हैं; अतः आपके नाम के आगे 'द्वितीय' विशेषण लगाया जाता है।

परन्तु आचार्य जिनसेन स्वामी (प्रथम) ने आदिपुराण की रचना हरिवंशपुराण के बाद की है; क्योंकि आचार्य देव ने आदिपुराण की रचना अपने जीवन के अन्तिम काल में की है और आचार्य का अनुमानित काल 760 शक संवत् है अर्थात् आदिपुराण की रचना भी शक संवत् 760 के आस-पास ही हुई है; परन्तु हरिवंशपुराण की रचना शक संवत् 705 में हो गई थी; अतः यह सिद्ध है कि हरिवंशपुराण की रचना आदिपुराण के पूर्व ही हो गई थी।

अतः यहाँ रचनाओं के कालक्रम के अनुसार ही हरिवंशपुराण के रचयिता आचार्य जिनसेन स्वामी (द्वितीय) का वर्णन पहले किया है और आदिपुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन स्वामी (प्रथम) का वर्णन बाद में किया है।

5. धर्म संग्रह श्रावकाचार

पण्डित मेधावीजी कृत धर्म संग्रह श्रावकाचार ग्रंथ मुख्य रूप से श्रावकों के आचार का ग्रंथ होने पर भी इसमें तीर्थंकर भगवान के समवशरण का वर्णन किया है। यह ग्रंथ 10 अधिकारों में विभाजित है। प्रथम अधिकार में राजा श्रेणिक का वर्णन, दूसरे अध्याय में तीर्थंकर देव के समवशरण का वर्णन किया है, जिसका उल्लेख पंडित टोडरमल जी और पंडित चेतनदासजी ने अपने समवशरण वर्णन में भी किया है। तीसरे अधिकार से दशवें अधिकार तक समवशरण में राजा श्रेणिक का प्रवेश, तीर्थंकर देव का उपदेश, व्रतादि का निरूपण किया है।

यह ग्रंथ विक्रम संवत् 1541 की कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी के दिन राजस्थान की धर्म नगरी नागौर में लिखा गया था।

यहाँ इसमें समवशरण का वर्णन कुल 145 श्लोकों में किया गया है। इसमें प्रारंभ के 42 श्लोकों में राजा श्रेणिक समवशरण तक किसप्रकार से पहुँचते हैं - इसका वर्णन है, 43 से 57 श्लोकों तक मूल स्कन्ध, समवशरण का प्रमाण, सीढ़ियाँ और रचनाओं का सामान्य परिचय, 57 से 82 श्लोकों तक 8 भूमियों का सामान्य वर्णन, 83 से 100 श्लोकों तक 3 पीठ, गंधकुटी, सिंहासन, 101 से 145 श्लोकों तक कोट, वेदी के वर्ण, रचनाओं का विस्तार प्रमाण, गोपुरद्वार, तोरण, नव निधि, अष्ट मंगल द्रव्य, नाट्यशाला, द्वारपाल इत्यादि का संक्षेप में वर्णन किया है।

यह सम्पूर्ण वर्णन **समवशरण स्तोत्र** के आधार से ही लिखा है। जिस क्रम से जितना वर्णन आचार्य विष्णुसेन स्वामी ने समवशरण स्तोत्र में किया है। पंडित मेधावीजी ने उसी क्रम से उतना ही वर्णन किया है। कुछ स्थानों पर तो एक दो परिवर्तन सहित पूरा का पूरा श्लोक वही का वही लिखा है। जैसे समवशरण में प्रवेश करने की योग्यताधारी जीवों का वर्णन करते हुए आ. विष्णुसेन स्वामी समवशरण स्तोत्र में लिखते हैं कि -

मिथ्यादृष्टिरभव्योऽसंज्ञी जीवोऽत्र विद्यते नैव।
यश्चानध्यवसायो यः संदिग्धो विपर्यस्तः।।58।।

अर्थात् समवशरण में कोई भी मिथ्यादृष्टि, अभव्य, असंज्ञी जीव नहीं रहते हैं; और न ही संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय होता है।

इसीप्रकार पण्डित मेधावीजी भी लिखते हैं कि -

''मिथ्यादृष्टिरभव्योप्यसंज्ञी कोऽपि न विद्यते।

यश्चानध्यवसायोऽपि यः संदिग्धो विपर्ययः।।139।।''

इसप्रकार पं. मेधावीजी ने सम्पूर्ण वर्णन समवशरण स्तोत्र को मुख्य आधार बनाते हुए किया है।

समवशरण स्तोत्र में सम्पूर्ण वर्णन तिलोय पण्णत्ति आदि ग्रन्थों के आधार से किया है, परन्तु सम्पूर्ण वर्णन का अध्ययन करने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि यह वर्णन मूल तिलोय पण्णत्ति के आधार से ही किया है; क्योंकि जिसप्रकार तिलोय पण्णत्ति में चौबीस तीर्थंकरों के समवशरण का वर्णन किया है वैसे ही यहाँ भी किया है। जैसे वहाँ चैत्य वृक्ष और सिद्धार्थ वृक्ष के समीप मानस्तम्भ का वर्णन किया है, वैसे ही यहाँ भी किया तथा पहली चैत्यप्रासाद भूमि का भी उल्लेख किया है; परन्तु किन्हीं-किन्हीं स्थानों पर भिन्नता भी परिलक्षित होती है। जैसे - भूमि के नाम (सातवीं गृह भूमि, आठवीं सद्गण भूमि), ध्वजा भूमि में स्तंभों के प्रमाण संबंधी इत्यादि कथन भिन्नता लिए हुए हैं।

इसप्रकार विद्वानों के क्रम में समवशरण के विषय में पंडित मेधावीजी ने ही सर्वप्रथम अपनी कलम चलाई है तथा सरल संस्कृत भाषा में अनुष्टुप् आदि छंदों के माध्यम से समवशरण का संक्षेप में स्पष्ट रूप से वर्णन किया है।

6. समोसरण वर्णन

आचार्य कल्प पण्डित टोडरमलजी कृत कुल 12 रचनाएँ हैं। इन 12 रचनाओं में 'समोसरण वर्णन' के अन्दर समवशरण का विस्तृत वर्णन किया गया है तथा ''यह रचना त्रिलोकसार के अंत में लिखी हुई अवश्य ही प्राप्त हुई है, परन्तु यह त्रिलोकसार ग्रंथ का अंश नहीं है, अपितु एक स्वतंत्र रचना ही है। इसका आधार भी त्रिलोकसार ग्रंथ नहीं है। इसका आधार धर्म संग्रह श्रावकाचार, आदिपुराण, हरिवंशपुराण

और त्रिलोक प्रज्ञप्ति (तिलोय पण्णत्ति) है। ग्रंथ के आरंभ में ग्रंथकार ने इस तथ्य को स्पष्ट स्वीकार किया है।

समोसरण वर्णन लिखने की प्रेरणा पण्डितजी को त्रिलोकसार भाषा टीका में वर्णित अकृत्रिम जिन चैत्यालय के वर्णन से प्राप्त हुई है। अकृत्रिम जिन चैत्यालयों में अरिहंत प्रतिमाएँ होती हैं। ये एक तरह से समोसरण के प्रतीकरूप भी होती हैं। उनके वर्णन के समय पण्डितजी को यह विचार आया कि अरिहंत भगवान की साक्षात् धर्म सभा का वर्णन करना चाहिए। इसका उद्देश्य अरिहंत भगवान की धर्म सभा समोशरण की रचना का ज्ञान साधारण जन को देने का है। इसकी रचना त्रिलोकसार भाषा टीका के बाद ही हुई है; अतः विक्रम संवत् 1818 से 1824 के बीच ही इसका रचनाकाल रहा है।''[1]

परन्तु वर्तमान समय में यह रचना अनुपलब्ध है तथापि इस रचना का वर्णन डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने अपने 'टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व' में किया है। जो इसप्रकार है -

''पण्डितजी ने इसके नाम के रूप में **'समोसरण'** और **'समवसरण'** इन दोनों नामों का प्रयोग किया है। ग्रंथ के आरंभ और अंत में 'समोशरण' शब्द का प्रयोग किया है तथा मंगलाचरण के दोहा में 'समवशरण' शब्द का प्रयोग किया है।''[2]

''ग्रंथ का आरम्भ मंगलाचरण रूप दोहा से किया गया है; जिसमें इष्टदेव को नमस्कार करके समोसरण वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई है। यह वर्णन 2 भागों में विभक्त है -

1. समोसरण वर्णन

1. पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व, पृष्ठ-107
2. पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व, पृष्ठ-106

2. विहार वर्णन

समोसरण वर्णन में समोसरण का विस्तार, लंबाई, चौड़ाई, ऊँचाई, द्वार, सोपान, मानस्तम्भ, कोट, खाई, उपवन, बावड़ी, नृत्यशाला, सभा, भवन और अष्ट प्रातिहार्य तथा समोसरण में स्थित अतिशयों का विस्तृत वर्णन है।

विहार वर्णन में तीर्थंकर देव के विहार-गमन, समोसरण के विघटन, मार्ग की स्वच्छता, निष्कण्टकता, अनेक अतिशय युक्तता, विहार के कारण आदि का वर्णन है।

ग्रंथ की समाप्ति ''ऐसे विहार सहित समोसरण का वर्णन सम्पूर्णम्'' वाक्य द्वारा की गई है।

यह रचना वर्णनात्मक गद्य शैली में लिखी गई है। आज के वर्णनात्मक निबंधों का यह 210 वर्ष पुराना रूप है। अपने प्रारंभिक रूप में होने के बाद भी इसमें शिथिलता और अव्यवस्था नहीं पाई जाती है। प्रत्येक वस्तु का बारीकी से वर्णन किया गया है। फिर भी प्रवाह में रुकावट नहीं आई है।

भाषा सरल, सहज और प्रवाहमयी है। किसी वर्णनात्मक निबंध की विशेषता इसी बात में है कि जिसका वर्णन किया जा रहा है, उसका चित्र पाठक के ध्यान में आ जाए। यह रचना इस कसौटी पर खरी उतरती है।''[1]

7. रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका

पण्डित सदासुखदासजी कृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका के छठवें भावना अधिकार में रूपस्थ धर्मध्यान के अंतर्गत 12 पृष्ठों में समवशरण का वर्णन किया है।

यह सम्पूर्ण वर्णन आदिपुराण के अनुसार ही लिखा है। आदिपुराण

1. पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व, पृष्ठ-108

में जो क्रम व उपमाएँ दी गई हैं, वही क्रम व उपमाएँ यहाँ भी यथावत् दी गई हैं। अन्तर मात्र इतना ही है कि आदिपुराण में बहुत विस्तृत वर्णन किया है और यहाँ बहुत ही संक्षेप में वर्णन किया है।

सम्पूर्ण वर्णन यथावत् होने पर भी 12 सभाओं के क्रम में किंचित् भिन्नता है। यथा -

''1. मुनिराज, 2. कल्पवासी देवियाँ, 3. अर्जिका, 4. मनुष्य, 5. ज्योतिषी देवांगनाएँ, 6. व्यंतर देवांगनाएँ, 7. भवनवासी देवांगनाएँ, 8. भवनवासी देव, 9. व्यंतर देव, 10. ज्योतिषी देव, 11. कल्पवासी देव, 12. तिर्यंच।''[1]

उपर्युक्त क्रम के अनुसार मनुष्य चौथे कोठे में बैठते हैं; परन्तु अन्य ग्रन्थों में मनुष्यों का 11वाँ कोठा कहा है तथा जो चौथी से दशवीं तक की सभाएँ कही हैं, उनको यहाँ पाँचवीं से ग्यारहवीं तक की सभाओं के रूप में उल्लेखित किया है।

इसप्रकार विद्वानों के द्वारा किए गए समवशरण के वर्णन में एक मात्र यही वर्णन उपलब्ध है तथा पण्डितजी ने इसे अत्यन्त सरल भाषा में संक्षिप्त रूप से निरूपित किया है।

8. तत्त्वार्थसार

पण्डित चेतनदासजी कृत तत्त्वार्थ-सूत्र वचनिका 'तत्त्वार्थसार' के प्रथम अध्याय के दूसरे सूत्र 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' के अन्तर्गत अष्ट प्रातिहार्य और समवशरण रचना का वर्णन किया है।

यह वर्णन संक्षिप्त, स्पष्ट तथा सुव्यवस्थित है। यदि कहे कि समवशरण के सुव्यवस्थित वर्णन करने में आचार्य यतिवृषभ देव के पश्चात् पण्डित चेतनदासजी आते हैं, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं

1. रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका, पृष्ठ-421

है; क्योंकि इनके समान सुव्यवस्थित वर्णन अन्य रचनाओं में प्राप्त नहीं होता है।

पण्डितजी ने आचार्य यतिवृषभ देव की शैली का ही अनुकरण किया है। जैसे वर्णन करते समय सर्वप्रथम कोट, वेदी और भूमियों का सामान्य वर्णन किया है, तत्पश्चात् शीर्षक (heading) सहित प्रत्येक रचना का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है।

यह सम्पूर्ण वर्णन अनेक ग्रंथों के अध्ययन करने के पश्चात् ही किया गया है – ऐसा प्रतीत होता है तथा पण्डितजी स्वयं ही वर्णन के अन्त में लिखते हैं कि "इस सम्पूर्ण वर्णन का विस्तृत वर्णन त्रिलोकसार, धर्म संग्रह श्रावकाचार, रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका आदि में और आचार्य जिनसेन स्वामी ने आदिपुराण में किया है।"[1] इसका अर्थ यही है कि पण्डितजी ने इन सभी ग्रंथों का अध्ययन करके ही समवशरण की रचना का वर्णन किया है तथा इसकी झलक तो हमें वर्णन में भी स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। जैसे –

- 4 कोट, 5 वेदी और चैत्यप्रासाद भूमि का स्पष्ट वर्णन किया है। इससे सिद्ध होता है कि पण्डितजी ने तिलोय पण्णत्ति ग्रंथ का अध्ययन किया है।
- मानस्तम्भ पर 2000 धाराएँ अर्थात् पहलू होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि हरिवंशपुराण का भी अध्ययन किया है।
- धूलिसाल कोट के पाँच वर्णों (कृष्ण, नीला, रक्त/लाल, पीत और श्वेत) के क्रम का उल्लेख आदिपुराण के क्रम के अनुसार किया है। इससे सिद्ध होता है कि आदिपुराण का भी अध्ययन किया है।
- पण्डितजी को टोडरमलजी का 'समोसरण वर्णन' भी अवश्य

1. तत्त्वार्थसार, पृष्ठ-76

ही उपलब्ध होगा, क्योंकि टोडरमलजी ने जिन-जिन ग्रंथों का आधार लिया है, उन्हीं ग्रंथों का आधार आपने भी यहाँ लिया है।

दूसरी बात यह है कि पण्डितजी ने त्रिलोकसार ग्रंथ का भी उल्लेख किया है, परन्तु त्रिलोकसार ग्रन्थ में समवशरण का वर्णन नहीं है। पण्डित टोडरमलजी ने ही त्रिलोकसार की टीका के अन्त में समोशरण का वर्णन किया था तथा चेतनदासजी ने समवशरण वर्णन को मूल त्रिलोकसार ग्रंथ का जानकर त्रिलोकसार ग्रंथ का नामोल्लेख किया हो अथवा यह टोडरमलजी की रचना है, ऐसा जानते हुए भी त्रिलोकसार का ही नामोल्लेख किया हो, क्योंकि तब 'समोशरण रचना वर्णन' पृथक् से प्रकाशित नहीं हुई थी।

अतः यह तो सिद्ध होता है कि आपके समक्ष पण्डित टोडरमलजी की कृति 'समोशरण रचना वर्णन' भी उपलब्ध थी और आपने उसका भी अध्ययन करके ही यहाँ समवशरण वर्णन किया है।

किन्हीं-किन्हीं स्थानों पर विशेष वर्णन भी किया है जो तिलोय पण्णत्ति आदि ग्रन्थों में नहीं मिलता है तथा कुछ स्थानों पर अन्य ग्रन्थों से विरुद्ध कथन भी मिलता है। यथा –

- 'महावीथी 1 कोस चौड़ी हैं'[1], यह कथन अन्य ग्रंथों से भिन्न हैं; क्योंकि 'तिलोय पण्णत्ति में 4 कोस'[2] और 'हरिवंशपुराण में 2 कोस'[3] चौड़ी कही है; परन्तु यह, इन दोनों में से एक भी कथन नहीं है; अपितु तीसरा ही कथन है।
- 'तीसरी भूमि को पुष्पवाटिका कहा है।'[4] यह नाम भी अन्य ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होता है।

1. तत्त्वार्थसार, पृष्ठ-65
2. तिलोय पण्णत्ति – 4/724
3. हरिवंशपुराण – 57/10
4. तत्त्वार्थसार, पृष्ठ-70

● ''चौथी उपवन भूमि की चारों दिशाओं में 16 चैत्यवृक्ष और 64 जिन प्रतिमाएँ तथा 8 नाट्यशालाएँ कही हैं।''[1] यह वर्णन उपसंहार के रूप में किया है। मध्य में जो वर्णन किया है उसमें तो 1 दिशा में 1 चैत्यवृक्ष और 4 प्रतिमाएँ कही हैं, परन्तु उपसंहार के रूप में जो वाक्य कहा है वह अन्यत्र प्राप्त नहीं होता है।

● ''गंधकुटी की पहली पीठ 32-32 सीढ़ियों से युक्त होती हैं''[2]; ''परन्तु तिलोय पण्णत्ति में 16-16 सीढ़ियाँ कहीं हैं।''[3]

इसप्रकार उपर्युक्त सभी ग्रन्थों में समवशरण का संक्षेप और विस्तार से तथा सामान्य और विशेष रूप से वर्णन किया गया है।

इसप्रकार समवशरण के विषय में जिन-जिन आचार्यों और विद्वानों ने अपनी कलम चलाई है, उनका और उन्होंने संक्षेप-विस्तार से तथा सामान्य और विशेष रूप से किस प्रकार निरूपण किया है, उन सबका वर्णन किया है।

अब समवशरण की रचना सरलता से समझने के लिए उसमें प्रयुक्त प्रमाण आदि को समझना भी अति आवश्यक है; अतः उनका वर्णन इसप्रकार है -

6 अंगुल	1 पाद
2 पाद	1 विलस्त
2 विलस्त	1 हाथ
4 हाथ	1 धुनष
2000 धनुष	1 कोस
4 कोस	1 व्यवहार योजन
2000 कोस (4 कोस ह्न 500)	1 प्रमाण योजन

1. तत्त्वार्थसार, पृष्ठ-71
2. तत्त्वार्थसार, पृष्ठ-73
3. पत्तेकं कोट्ठाणं पणघीसुं तह य सयलवीहीणं।
होंति हु सोलस सोलस सोवाणा पढमपीढेसुं।।866।। तिलोय पण्णत्ति, अधिकार-4

अथवा

1 योजन	4 कोस	8 मील	12.8 K.M.	8000 धनुष	32000 हाथ	7,68000 अंगुल
	1 कोस	2 मील	3.2. K.M.	2000 धनुष	8000 हाथ	1,92000 अंगुल
		1 मील	1.6. K.M.	1000 धनुष	4000 हाथ	4,81000 अंगुल
				1 धनुष	4 हाथ	96 अंगुल
					1 हाथ	24 अंगुल (2 विलस्त)
					1 विलस्त	12 अंगुल

उपर्युक्त प्रमाणों में एक नाप के अंतर्गत अन्य नाप किस प्रकार समाहित होते हैं यह बताया गया है। जैसे - 1 योजन को कोस में परिवर्तित करें तो 1 योजन = 4 कोस के बराबर होता है। इसी प्रकार 1 योजन में कितने मील, किलो मीटर, धनुष, हाथ और अंगुल होते हैं यह स्पष्ट किया गया है।

प्रस्तुत कृति में समवशरण के माहात्म्य को स्पष्ट किया गया है। समवसरण की रचना कोट, वेदी, भूमि, गोपुरद्वार, गंधकुटी इत्यादि से अतिशय शोभायमान अद्भुत, अविचारणीय होती है। इन सभी रचनाओं का वर्णन उपर्युक्त तिलोय पण्णत्ति आदि ग्रन्थों के आधार से किया गया है; परन्तु तिलोय पण्णत्ति को मुख्य आधार बनाते हुए शेष ग्रंथों के विशेष कथनों को भी समाहित किया गया है। साथ ही जिन ग्रंथों में साम्यता नहीं लिए हुए कथन प्राप्त हुए हैं उनका भी स्पष्ट निरूपण किया है।

समवशरण में विद्यमान तीर्थंकर देव के अष्ट प्रतिहार्यों का प्रकरण, प्रसंग प्राप्त होने से 'दिव्यध्वनि' विषय का भी विविध प्रमाणों सहित विस्तार से सर्वांगीण निरूपण किया है। इस विषय के लिए मैं - पं.

अमनजी (आरोन), पं. संभवजी, पं. पलजी, पं. पवित्रजी, पं. दुर्लभजी और पं. अंकुरजी (खड़ैरी) को भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

इसप्रकार हम सभी समवशरण के माहात्म्य को समझकर स्वयं को भद्र परिणामी भव्य जीव जानते हुए समवशरण स्थित तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि का रहस्य पहिचानकर सहजता के मार्ग में आगे बढ़ें।

अंत में **'को ना विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे'** के अनुसार श्रुत-सेवा के इस स्वान्तः सुखाय कार्य में कोई अज्ञान-प्रमादवश भूल रह गई हो तो सुधी जन इस ओर ध्यानाकर्षित करायें - ऐसे अनुरोध के साथ विराम लेता हूँ।

17 जनवरी, 2020

- अमन जैन शास्त्री
लोनी (दिल्ली)

बचनादिक लिखनादिक क्रिया, वर्णादिक अरु इन्द्रिय हिया।
ये सब हैं पुद्गल के खेल, इनमें नाहिं हमारो मेल।।

रागादिक वचनादिक घनां, इनके कारण कारिज पनां।
तातैं भिन्न न देख्यो कोय, बिनु विवेक जग अंधा होय।।

ज्ञान राग तो मेरौ मिल्यौ, लिखनौ करनौ तनु को मिल्यौ।
कागज मसि अक्षर आकार, लिखिया अर्थ प्रकाशनहार।।

ऐसौ पुस्तक भयो महान, जातैं जानें अर्थ सुजान।
यद्यपि यहु पुद्गल कौ खंद, है तथापि श्रुतज्ञान निबंध।।

- आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी

समवशरण एवं दिव्यध्वनि संबंधी नवीन प्रमेय

1. समवशरण भूमि सामान्य पृथ्वी से एक हाथ ऊपर होती है।
2. मानस्तम्भ के गोपुरद्वारों के सामने स्थित वापिकाओं के दोनों ओर दो-दो कुण्ड स्थित होते हैं। जिनमें सभी जीव अपने चरणों को धोकर प्रवेश करते हैं।
3. मानस्तम्भ के निचले भाग में सिद्ध प्रतिमा और उपरिम भाग में अरहंत प्रतिमा विराजमान होती है। इसीप्रकार अरहंत और सिद्ध प्रतिमाएँ अन्यत्र भी विराजमान हैं।
4. अरहंत प्रतिमा और सिद्ध प्रतिमा में अन्तर :-
   अष्ट प्रातिहार्यों से सहित अरहंत प्रतिमा होती है।
   अष्ट प्रातिहार्यों से रहित सिद्ध प्रतिमा होती है।
5. समवशरण में जीवों को अपने भव कुल 3 स्थानों पर दिखलाई देते हैं - 1. भामण्डल 2. वापिका 3. दर्पण नामक मंगल द्रव्य।
6. सातवीं भवन भूमि के पार्श्वभाग की महावीथी में 9-9 स्तूप होते हैं।
7. आठवीं श्रीमण्डप भूमि का उपरिम भाग आच्छादित (covered) होता है, जिसे मण्डप कहते हैं।
8. सभी जीव भगवान को बारम्बार देखने के लिए प्रथम पीठ पर 3 प्रदक्षिणा लगाते हैं, तदुपरान्त अपनी योग्य सभा में आकर बैठ जाते हैं।
9. अशोक वृक्ष श्रीमण्डप भूमि के बराबर अर्थात् एक योजन विस्तृत होता है।

10. समवशरण की रचना **तीर्थंकर नामगोत्र कर्मोदय** से होती है।
11. समवशरण प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में संघटित-विघटित होता रहता है।
12. समवशरण की रचना अकृत्रिम जिन-चैत्यालयों के समान होती है।
13. दिव्यध्वनि मुख से खिरती है; परन्तु सर्वांग से खिरती हुई प्रतीत देती है।
14. दिव्यध्वनि अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक दोनों रूप होती है।
15. दिव्यध्वनि मात्र ॐकारमयी नहीं होती है और न ही 700 लघु भाषा और 18 महाभाषा रूप होती है; अपितु अनेक बीजपद रूप होती है।
16. मागधजाति के देव दिव्यध्वनि को नहीं खिराते हैं और न ही 700 लघुभाषा और 18 महाभाषाओं रूप परिणमित करते हैं; अपितु मात्र Sound Speaker के समान सभी जीवों के पास समान रूप से ध्वनि का प्रसारित करते हैं।
17. गणधर देव दिव्यध्वनि को 700 लघुभाषा और 18 महाभाषा रूप से श्रोताओं तक पहुँचाते हैं।
18. सभा में स्थित सभी जीव गणधर देव से ही शंका-समाधान करते हैं, इत्यादि।

मंगलाचरण

(दोहा)

तीर्थंकर को नमन कर, जिन स्वरूप निज धार।
समवशरण वर्णन करूँ, दिव्यध्वनि अनुसार।। १।।

(वीर)

भवि जीवों के महाभाग्य से
समवशरण रचना अनुपम।।
इसका वर्णन करने में
गणधर सुरेन्द्र भी ना सक्षम।। २।।

यदि सागर स्याही से पृथ्वी-
कागज पर करते गुणगान।
तो भी समवशरण की महिमा
का पूरा न होय बखान।। ३।।

बस परोक्ष अवलोकन से ही
मिलता है आनन्द अपार।
तो सोचो! प्रत्यक्ष दर्श का
कैसा हो वह क्षण सुखकार।। ४।।

सौ - योजन तक रोग-शोक-
दुर्भिक्ष सभी भग जाते हैं।
नर तिर्यंच देव सब मिलकर
साम्य भाव से आते हैं।। ५।।

कुत्ता-बिल्ली सर्प-नेवला
जो भी शत्रु कहाते हैं।
तीर्थेश्वर के ही प्रताप से
शत्रु मित्र हो जाते हैं।। ६।।

समवशरण में कर प्रवेश
दर्शन हेतू जो आते हैं।
अंधे-बहरे, लंगड़े-लूले
सभी ठीक हो जाते हैं।। ७।।

तीन लोक के रम्य भोग
इक कोने में डोला करते।
फिर भोगों की महिमा हम
क्यों बढ़-चढ़कर बोला करते।। ८।।

ढाई द्वीप में जहाँ-जहाँ भी
प्रभु की वाणी खिरती है।
सौख्य प्रदायक ज्ञान दीप
वह मोह तिमिर को हरती है।। ९।।

ज्ञान प्रकाशक पाप विनाशक
आदि प्रभु को करूँ नमन।
समवशरण के ज्ञान मात्र से
'अमन' मार्ग में करूँ गमन।। १०।।

अपनी अल्प बुद्धि बल द्वारा
आज कर रहा यह वर्णन।
भूल चूक हो जाए अगर तो
ज्ञानी करें मार्ग दर्शन।। ११।।

(दोहा)

महिमा आत्मस्वभाव की, जागृत हो उर आज।
सर्व जीव इस जगत के, पाएँ 'समकित' राज।। १२।।

समवशरण रचना वर्णन

आज से लगभग एक कोडाकोडी सागर पहले अवसर्पिणी के तृतीय काल के अन्त में माता मरुदेवी के गर्भ से बाल तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ था। जन्म के पश्चात् 83 लाख पूर्व तक गृहस्थ अवस्था में रहते हुए वे राजकार्यों में संलग्न रहे तथा एक दिवस जन्मोत्सव के रूप में राजा ऋषभदेव चैत्र कृष्ण नवमी के दिन राज-दरबार में नीलांजना का नृत्य देख रहे थे।

नृत्य करती हुई नीलांजना का मरण देखकर पदार्थों की क्षणभंगुरता का ज्ञान तथा वैराग्य उत्पादक अनित्य आदि बारह भावनाओं के चिंतवन द्वारा विषकुम्भ रूपी इन्द्रिय सुख के समूह रूप राजपद का त्याग कर अमृतकुम्भ रूपी अतीन्द्रिय सुख के समूह रूप मुनिपद को धारण किया।

मुनिपद को धारण करने के पश्चात् 1000 वर्ष तक मौन साधना द्वारा अनेक जिज्ञासुओं की शंकाओं का सहज समाधान करते हुए फाल्गुन कृष्ण एकादशी के दिन केवलज्ञान की प्राप्ति की।

जब यहाँ मध्यलोक के जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड की अयोध्या नगरी में मुनि ऋषभदेव को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। उसी समय ऊर्ध्व-लोक में विभिन्न संकेतों के माध्यम से इंद्रादिकों को मुनि ऋषभदेव के केवलज्ञान प्राप्ति की सूचना मिली। जैसे –

''सिंहासन कम्पित होने से इन्द्र को,
शंख के उद्घोष से भवनवासी देवों को,
नगाड़े की ध्वनि से व्यंतर देवों को,
सिंहनाद से ज्योतिषी देवों को तथा

घंटे की ध्वनि से कल्पवासी देवों को भगवान के केवलज्ञान की सूचना मिली।[1]

सूचना प्राप्त होने के पश्चात् सभी देव भक्तिभाव पूर्वक अपने-अपने स्थान से उसी दिशा में 7 हाथ[2] आगे आकर तीर्थंकर देव को नमन करते हैं। उसी समय सौधर्म इन्द्र कुबेर को समवशरण की रचना करने का आदेश देते हैं। जलाभिषेक पाठ में कहा भी है –

तब इंद्र जान्यौ अवधि तैं, उठि सुरन युत वंदत भयौ।
(तुम) तुव पुण्य को प्रेर्यौ हरि ह्वै, मुदित धनपति सौं कह्यौ।।
अब वेगि जाय रच्यौ समवसृति, सफल सुरपद को कर्यौ।।

अर्थात् तीर्थंकर देव को जब केवलज्ञान की प्राप्ति हुई तब इन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से जाना कि तीर्थंकर देव को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। उसी समय इन्द्रादि ने अपने-अपने स्थान से उसी दिशा में 7 पग आगे आकर तीर्थंकर देव को परोक्ष नमन किया और सौधर्म इन्द्र ने तीर्थंकर के पुण्य से प्रेरित एवं प्रभावित होकर कुबेर को आज्ञा दी कि अब शीघ्रता से जाकर समवशरण की रचना कर अपनी देव पर्याय को सफल करो।

इस प्रकार सौधर्म इन्द्र की आज्ञा को शिरोधार्य कर कुबेर अपनी पृथक् विक्रिया से समवशरण की रचना करते हैं।

1. भगवान के धर्मोपदेश देने की सभा को समवशरण कहते हैं।

2. 'समवशरण' शब्द 'सम्' और 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'शृ' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय करके बना है। जिसका अर्थ है 'सम इति अवशरण'। 'सम' समान रूप से, 'अवशरण' (अवसरा) दिव्यध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हुए बैठना अर्थात् जहाँ सभी जीव समान रूप से दिव्यध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हुए बैठते हैं, उसे समवशरण कहते हैं।

3. तथा 'शृ' धातु 'रक्षा करने' के अर्थ में भी आती है। जहाँ सर्व जीवों की समान रूप से (भव दुःखों से) रक्षा होती है, उसे समवशरण कहते हैं।

1. तिलोय पण्णत्ति – गाथा 707
2. भगवती आराधना की विजयोदया टीका, गाथा-145
''स्वामिसमवस्थितदिगभिमुखं गत्वा सप्तपदमात्रं''

समवशरण के कुछ अन्य नाम भी प्राप्त होते हैं, जो इसप्रकार हैं –

आदिपुराण में समवशरण को 'आस्थांगण मंडल'[1] 'समवशरण[2]' 'समवसरण•', 'इन्द्रसभा[3]' और 'समवसृति[4]'; रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका में 'समोशरण[5]', टोडरमलजी ने भी 'समोसरण[6]' शब्द का प्रयोग किया तथा 'भगवान की धर्म सभा' इत्यादि नामों का प्रयोग मिलता है।

इन्द्रनीलमणि से निर्मित 5,000 धनुष मोटी समवशरण भूमि का अधः भाग सामान्य भूमि से 1 हाथ[7] ऊपर है तथा उपरिम भाग जहाँ 8 भूमि, 5 वेदी, 4 कोटादि निर्मित हैं, वह सामान्य भूमि से लगभग 5,000 धनुष ऊपर है।

यहाँ आपको आशंका हो सकती है कि लोक में तो ऐसा कथन प्रचलित है कि समवशरण सामान्य भूमि से 5,000 धनुष ऊपर है और आप कह रहे हैं कि 1 हाथ ऊपर है, ऐसा मतभेद क्यों है?

देखो भाई, यहाँ कोई मतभेद नहीं है, मात्र अपेक्षा भेद है। जब समवशरण को 5,000 धनुष ऊपर कहा जाता है, तब समवशरण का अर्थ समवशरण का उपरिम भाग जहाँ 8 भूमि आदि स्थित हैं, उसे ग्रहण करना चाहिए तथा जब समवशरण को 1 हाथ ऊपर कहा जाता है तब समवशरण का अर्थ समवशरण के अधः भाग को ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न – यदि समवशरण को 1 हाथ ऊपर माना जाए, तो पृथ्वी पर स्थित अनेक रचनाएँ विनाश को प्राप्त हो जाएगी?

उत्तर – नहीं, यह समवशरण इन्द्र की आज्ञा से कुबेर के द्वारा पृथक् विक्रिया से निर्मित है; अतः इसके द्वारा किसी को किसी भी प्रकार की बाधा नहीं होती है।

1. आदिपुराण – 22/ 76,79 2. निर्वाणभक्ति-समवशरणमानं योजनं द्वादशादि।।29।।
● आ.पु.-भगवत्समवसरणवर्णनं नाम द्वाविंशपर्व।
3. आ.पु. – 11/65 4. आ.पु. – भगत्समवसृतिविभूतिवर्णनं नाम त्रयोविंशपर्व
5. रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका, पृष्ठ – 411
6. टोडरमल व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व, पृष्ठ-106
7. हरिवंशपुराण – भूमेः स्वभावभूताया दिव्यारत्निप्रमोच्छ्रितिः।।5।। 57 सर्ग

जिसप्रकार 8 भूमि, 5 वेदी, 4 कोटादि रचना की अपेक्षा समवशरण भूमि को 5,000 धनुष ऊपर कहा जाता है; परन्तु वस्तुतः समवशरण भूमि 1 हाथ ऊँची है।

इसप्रकार सामान्य रूप से तीर्थंकर देव (भगवान) को पृथ्वी से 5,000 धनुष ऊपर स्थित कहा जाता है; परन्तु वस्तुतः तो पृथ्वी से एक हाथ ऊपर 5,000 धनुष मोटी समवशरण भूमि है, उसके ऊपर 8 धनुष ऊँची पहली पीठ, उसके ऊपर 4 धनुष ऊँची दूसरी पीठ, उसके ऊपर 4 धनुष ऊँची तीसरी पीठ, उसके ऊपर 900 धनुष ऊँची गंधकुटी, उसके ऊपर 1 धनुष ऊँचा सिंहासन● तथा उससे 4 अंगुल (1/2 हाथ) ऊपर तीर्थंकर देव विराजमान होते हैं। इन सबका जोड़ करने पर पृथ्वी से 5,917 धनुष 4 अंगुल ऊपर तीर्थंकर देव विराजमान होते हैं।

अतः तिलोय पण्णत्ति ग्रन्थ के कथन का अर्थ यही है कि 5,000 धनुष ऊपर समवशरण में तीर्थंकर देव विराजमान होते हैं।

''समवशरण भूमि सूर्यमण्डल के समान गोल आकार वाली तथा 12 योजन प्रमाण विस्तृत और 5,000 धनुष प्रमाण मोटी होती है।''[1] समवशरण भूमि की चारों दिशाएँ स्वर्णमय सीढ़ियों से युक्त होती हैं।

ये सीढ़ियाँ सामान्य भूमि से तो 1 हाथ की ऊँचाई से अधर में हैं; परन्तु चारों दिशाओं की सीढ़ियों के बीच रिक्त स्थान नहीं है; क्योंकि वहाँ 5,000 धनुष (20,000 हाथ) ऊँची समवशरण भूमि है और इसी समवशरण भूमि से चारों दिशाओं की सीढ़ियाँ सटी हुई अर्थात् स्पर्शित हैं।

एक दिशा में 20,000 सीढ़ियाँ हैं। इसप्रकार चारों दिशाओं में कुल 80,000 सीढ़ियाँ होती हैं। एक सीढ़ी 1 हाथ ऊँची, 1 हाथ चौड़ी और ''1 योजन लंबी होती है।''[2] हरिवंशपुराण में सीढ़ियों की

1. तिलोय पण्णत्ति, 4/716
● आदिपुराण, सर्ग - 22/ (तत्त्वार्थसार में पंडित चेतनदासजी ने सिंहासन की ऊँचाई 1 योजन बताई है।)
2. तिलोय पण्णत्ति, 4/722

लम्बाई 2 कोस''[1] तथा ''तत्त्वार्थसार''[2] और ''रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका''[3] में सीढ़ियों की लम्बाई 1 कोस कही है।) देव, मनुष्य और तिर्यंच - इन अद्भुत स्वर्णमय सीढ़ियों के मार्ग से समवशरण में प्रवेश करते हैं।

प्रश्न – देव तो आकाश में गमन करते हैं तो उन्हें सीढ़ियों की क्या आवश्यकता है?

उत्तर – देव अपनी इच्छानुसार आकाश मार्ग से अथवा सोपान मार्ग से समवशरण में प्रवेश कर सकते हैं तथा यहाँ तो मात्र इतना ही बताना इष्ट है कि सीढ़ियों के मार्ग से जाने में कौन-कौन समर्थ हैं।

सभी देव, मनुष्य और तिर्यंच बिना किसी प्रयत्न के 20,000 सीढ़ियों को अन्तर्मुहूर्त में ही पार कर लेते हैं। यह सब भगवान के पुण्य-प्रताप का ही फल है। **(सोपान एवं स्कन्ध का चित्र पृष्ठ 177 पर देखें।)**

ये 20,000 सीढ़ियाँ प्रत्येक दिशा में नीलमणिमय स्कन्ध (समवशरण भूमि) से जुड़ी हुई हैं अर्थात् समवशरण की रचना 5,000 धनुष मोटे/ऊँचे स्कन्ध पर होती है।

''इस इंद्रनील मणिमय स्कन्ध का बाह्य भाग दर्पण तल के समान निर्मल और ऊपरी भाग जिस पर 4 कोट, 5 वेदी और 8 भूमियों की रचना होती है, वह कमल के आकार के समान तथा गंधकुटी कर्णिका अर्थात् कमलनाल के समान ऊँची उठी हुई होती है तथा इसी स्कन्ध का बाह्य भाग कमल दल के समान विस्तृत होता है।''[4]

गोपुरद्वार

सीढ़ियों के पश्चात् चारों दिशाओं में 1-1 द्वार है, इसप्रकार चारों दिशाओं में कुल 4 द्वार होते हैं, इन द्वारों को गोपुरद्वार कहते हैं। इन

1. हरिवंशपुराण, सर्ग-57, श्लोक-10
2. तत्त्वार्थसार (चेतनदासजी कृत तत्त्वार्थसूत्र टीका), पृष्ठ-65
3. रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका, पृष्ठ-419 4. हरिवंशपुराण, सर्ग-57, श्लोक-7,8

गोपुरद्वारों के अग्रभाग पर तोरणें स्थित होती हैं; इसलिए इन्हें तोरणद्वार भी कहा जाता है। ''ये गोपुरद्वार स्वर्ण से निर्मित, 3 खण्डों (मंजिलों) से विभूषित, देव और मनुष्यों के मिथुनों से युक्त तोरणों पर नाचती हुई मणिमय मालाओं से सुशोभित होते हैं।''[1]

प्रश्न – तोरण किसे कहते हैं?

उत्तर – 1. ''तोरण अर्थात् झालर। बहिर्द्वार को सजाने के लिये लगाई जाने वाली पताकाएँ, मालाएँ आदि।''[2]

2. ''मण्डपाकार सजावटी फाटक।''[3]

3. ''जैसे कृत्रिम जिनमंदिर के ऊपर स्वर्णमय, गोलाकार कलश लगे रहते हैं। वैसे ही प्रत्येक द्वार के ऊपर 100-100 तोरणें होती हैं।''[4]

''इन तोरणों के ऊपर जो आभूषण (मालाएँ) लटके हुए हैं, वे ऐसे सुशोभित होते हैं, जैसे कि भगवान के शरीर पर अवकाश नहीं पाने के कारण तोरणों में आकर बँध गए हों।''[5]

''इन तोरणों में मत्स्य के आकार के चिह्न बने हुए तथा रत्नों की मालाएँ लटकी हुई होती हैं।[6]

''इसप्रकार वज्रमय कपाटों से संयुक्त गोपुरद्वार के बाह्य भाग में मकर के आकार के तोरण व अभ्यंतर भाग में रत्नमय 100-100 तोरणें होती हैं।[7]

ऐसे तोरणों संयुक्त गोपुरद्वार धूलिसाल कोट की चारों दिशाओं में एक-एक होते हैं। ये गोपुर द्वार धूलिसाल कोट में स्थित दो-दो स्वर्णमय स्तम्भों के अग्रभाग पर स्थित हैं। ''इन तोरणों की ऊँचाई धूलिसाल कोट (1 कोस) से भी अधिक होती है तथा इनसे भी अधिक गोपुरों की ऊँचाई होती है।''[8] **(गोपुरद्वार का चित्र पृष्ठ 178 पर देखें।)**

1. तिलोय पण्णत्ति अधिकार-4, गाथा-736 2. हिन्दी शब्द खोज 3. वही,
4. तत्त्वार्थसार, पृष्ठ-66 5. आदिपुराण – सर्ग 22/श्लोक 145
6. आदिपुराण – सर्ग 22/श्लोक 91 7. तिलोय पण्णत्ति – 4/742
8. तिलोय पण्णत्ति -4/731

नव निधि

''एक गोपुरद्वार के 4 तट अर्थात् कौने होते हैं। बाह्य पार्श्व भागों के 2 तट और अभ्यन्तर पार्श्व भागों के 2 तट – इसप्रकार 1 गोपुर द्वार के कुल 4 तट होते हैं तथा इन तटों पर नव निधियाँ विराजमान होती हैं।''[1] वे नव निधि इसप्रकार हैं – (चित्र 5)

1. काल, 2. महाकाल, 3. पाण्डु, 4. माणवक, 5. शंख, 6. पद्म, 7. नैसर्प, 8. पिंगल, 9. नाना रत्न।

पाण्डुकालमहाकालाः पद्मनैसर्पमानवाः।
शंखपिंगलरत्नाख्या एकक्रोष्टशतप्रभा।।30।।[2]

इन नव निधियों के माध्यम से ऋतुओं के अनुसार योग्य फल प्राप्त होते हैं। जिनके नाम क्रमशः इसप्रकार हैं –

1. द्रव्य (मालादि), 2. भाजन (बर्तन), 3. धान्य (अनाज), 4. आयुध (शंख-अस्त्र), 5. वादित्र (संगीत यंत्र), 6. वस्त्र (कपड़ा), 7. महल (प्रासाद), 8. आभरण (आभूषण), 9. सम्पूर्ण रत्न (रत्न)।

''प्रत्येक द्वार पर प्रत्येक निधि 108-108 की संख्या में स्थित हैं। ये नव निधियाँ भगवान के तीनों लोकों का उल्लंघन करने वाले भारी प्रभाव को सूचित करती हैं – ऐसा संदेश देती हैं कि वीतरागी भगवान से तिरस्कृत होकर द्वार पर पड़ी हों।''[3] **(नव निधि का चित्र पृष्ठ 179 पर देखें।)**

अष्ट मंगल द्रव्य

इसीप्रकार इन गोपुर द्वारों के ऊपर अष्ट मंगल द्रव्य लटके हुए होते हैं। ये अष्ट मंगल द्रव्य भी 108-108 की संख्या में स्थित हैं। जिनके नाम इसप्रकार हैं – (चित्र-6)।

1. झारी, 2. कलश, 3. दर्पण, 4. चमर, 5. ध्वजा, 6. व्यंजन, 7. छत्र, 8. सुप्रतिष्ठित (ठोना/स्वस्तिक)।

1. तत्त्वार्थसार, पृष्ठ-66 2. धर्म संग्रह श्रावकाचार – 2/130 3. तत्त्वार्थसार, पृष्ठ-66

'इन अष्ट मंगल द्रव्यों में से दर्पण नामक मंगल द्रव्य में जीवों को अपने पूर्व भव भी दिखलाई देते हैं।'[1] (अष्ट मंगल द्रव्य का चित्र पृष्ठ 179 पर देखें।)

द्वारपाल

इन गोपुरद्वारों पर कटक आदि आभूषण से सुशोभित, हाथ में उत्तम रत्नमय दण्ड को लिए हुए, मुद्‌गरों से उद्धत ज्योतिषी आदि देव द्वारपाल होते हैं। वे अपने प्रभाव से ''अयोग्य व्यक्तियों को दूर हटाते हैं।''[2] तथा भिन्न-भिन्न द्वारों पर भिन्न-भिन्न जाति के देव द्वारपाल होते हैं। जिनका वर्णन आगे किया जाएगा। (द्वारपाल का चित्र पृष्ठ 179 पर देखें।)

नाट्यशाला

इन गोपुरद्वारों के मध्य दोनों पार्श्व भागों में रत्नों से निर्मित एक-एक नाट्यशाला तीन-तीन खण्डों (मंजिलों) वाली हैं तथा एक नाट्यशाला में 32 रंगभूमियाँ तथा एक रंगभूमि में 32 देवांगनाएँ अथवा देव कन्याएँ अभिनय पूर्वक नृत्य करती हैं।

भगवान के यशोगीत गाती हुई देवांगनाएँ अंजुली से पुष्प क्षेपण करती हुई कुछ देवांगनाएँ बीन बजाती हैं, कुछ देवांगनाएँ मृदंग आदि अनेक वादित्र यंत्रों की ध्वनि के साथ अनेक प्रकार से जिनेन्द्र देव के स्तवनों का बखान करती हैं और जिनेन्द्र देव के गुणों में तन्मय होकर नृत्य करती हैं।

प्रश्न – देवांगनाओं का रूप कैसा होता है?

उत्तर – देवागनाएँ शरीर से पतली, सुंदर आकार वाली तथा वस्त्र और आभूषणों से अतिशय देदीप्यमान होती हैं। देवांगनाएँ आकाश में कल्पलताओं के समान सुशोभित होती हैं। उनके हँसते हुए मुख, कमल के समान और नेत्र, नील कमल के समान तथा उनका लावण्य, जल से भरे हुए सरोवर के समान और स्तनों के समीप भाग में लटके हुए हार,

1. हरिवंशपुराण -57/61   1. हरिवंशपुराण - 57/25

साँप की काँचली (छूटने वाली खाल) के समान और कान्तिवाली चोली को धारण कर रखा हो - ऐसी दिखलाई देती हैं। अति रमणीयरूप को धारण करने वाली ऐसी देवांगनाएँ बीन बजाती हुई, मृदंग आदि वादित्रों की ध्वनि से युक्त, पुष्प क्षेपण करती हुई, भगवान के यशोगीत गाती हुई नृत्य करती हैं तथा किन्नर देव वीणा के नाद के समान सुंदर शब्दों से आने-जाने वालों के मन को प्रसन्न करते हैं।

इन नाट्यशालाओं की दीवालें और भूमि उज्ज्वल स्फटिक मणिमय तथा स्तम्भ स्वर्णमय होते हैं वे अनेक रत्नमई शिखरों से आकाश को रोकती हुई सुशोभित होती हैं और शरद ऋतु के बादलों के समान सफेद दिखलाई देती हैं तथा इनमें नृत्य करने वाली देवांगनाएँ बिजली की शोभा को ही फैलाती हुई दिखलाई देती हैं।

''इन नाट्यशालाओं की ऊँचाई तीर्थंकरों के परमौदारिक दिव्य देह से बारह गुणा होती हैं अर्थात् ऋषभदेव की ऊँचाई 500 धनुष है, 500 धनुष का बारह गुणा 6000 धनुष (3 कोस) होता है; अतः नाट्यशालाओं की ऊँचाई 6000 धनुष (3 कोस) होती है तथा इनकी लंबाई और चौड़ाई का उपदेश नष्ट हो गया।

धूपघट

इन नाट्यशालाओं से कुछ आगे चलकर महावीथियों के दोनों ओर अनेक प्रकार की सुगंधित धूपों के प्रसार से दिग्मण्डल को सुवासित करने वाले धूपघट स्थित होते हैं। जो वर्षा ऋतु के मेघों के समान दिखलाई देते हैं तथा वह धूप, वायु के वश से उड़ती हुई चारों दिशाओं को सुगंधित करती है।

ये धूपघट मनुष्य और देवों के आकार के रत्नमयी पुतलों के हाथों में स्थित होते हैं। जिस क्षेत्र में धूपघट स्थित होते हैं, वहाँ मृदंग के शब्दों से और पड़ती हुई पुष्पवृष्टि से सदा वर्षाकाल का अवभासन होता है।

महावीथी

इन गोपुर द्वारों के आगे मार्ग हैं, जिसे वीथी कहते हैं। इन वीथियों की लम्बाई बहुत अधिक होने से इन्हें महावीथी भी कहा जाता है।

ये महावीथियाँ, पहले गोपुर द्वार से गंधकुटी पर्यन्त लंबी हैं। इनकी लम्बाई चौबीस से भाजित पाँच सौ बावन कोस प्रमाण है[1] अर्थात् 552/24=23 कोस (5 योजन 6000 धनुष, (5,75 योजन) लंबी हैं। प्रथम गोपुर द्वारों के समीप की महावीथियों का विस्तार 1 योजन प्रमाण है और अन्तिम नौवें गोपुर द्वारों के समीप की महावीथियों का विस्तार 1 कोस प्रमाण है अर्थात् पहले गोपुर द्वार से गंधकुटी (नौवें गोपुर द्वार) पर्यन्त महावीथियों का विस्तार क्रमशः घटता जाता है।

महावीथियों के दोनों ओर एक-एक वेदी (भित्ति/दीवाल) है; जिनकी लम्बाई महावीथी के समान 5.75 योजन (5 योजन 6000 धनुष) ही है तथा 1 कोस ऊँचाई है और 750 धनुष प्रमाण विस्तृत (चौड़ाई) है तथा स्फटिकमणिमय यह वेदी मार्ग व अट्टालिकाओं से युक्त होती है। **(महावीथी का चित्र पृष्ठ 180 पर देखें।)**

इसप्रकार वेदी-युक्त महावीथी, 9-9 गोपुरद्वारों सहित होती है। वे गोपुरद्वार इसप्रकार हैं -

पहला द्वार धूलिसाल कोट में, दूसरा द्वार पहली वेदी में, तीसरा द्वार दूसरी वेदी में, चौथा द्वार दूसरे कोट में, पाँचवाँ द्वार तीसरी वेदी में, छठवाँ द्वार तीसरे कोट में, सातवाँ द्वार चौथी वेदी में, आठवाँ द्वार चौथे कोट में, नवमाँ द्वार पाँचवीं वेदी में।

इसप्रकार एक महावीथी में कुल 9 गोपुर द्वार होते हैं और चारों महावीथियों में कुल 9+9+9+9 (9ह्व4) = 36 द्वार होते हैं।

1. तिलोय पण्णत्ति - 4/726

एक गोपुर द्वार पर नवनिधि और अष्ट मंगल द्रव्य, 108-108 की संख्या में होते हैं। इसप्रकार एक महावीथी के 9 द्वारों के ऊपर नव निधियाँ और अष्ट मंगल द्रव्य, कुल 972-972 होते हैं तथा चारों महावीथियों के 36 द्वारों के ऊपर नव निधियाँ और अष्ट मंगल द्रव्य, कुल 3888-3888 होते हैं।

'हरिवंशपुराण' में प्रत्येक महावीथी के प्रारंभ के 8 द्वारों के नाम इस प्रकार कहे हैं -

पूर्व दिशा के 8 द्वारों के नाम -

1. विजय, 2. विश्रुत, 3. कीर्ति, 4. विमल, 5. उदय, 6. विष्वधुक, 7. वासवीर्य, 8. वर;

दक्षिण दिशा के 8 द्वारों के नाम -

1. वैजयंत, 2. शिव, 3. ज्येष्ठ, 4. वरिष्ठ, 5. अनघ, 6. धारण, 7. याम्य, 8. अप्रतिघ;

पश्चिम दिशा के 8 द्वारों के नाम -

1. जयंत, 2. अमितसार, 3. सुधाम, 4. अक्षोभ्य, 5. सुभग, 6. वरुण, 7. वरद, 8.[1]

उत्तर दिशा के 8 द्वारों के नाम -

1. अपराजित, 2. अर्थ, 3. अतुलार्थ, 4. उदक, 5. अमोघक, 6. उदय, 7. अक्षय, 8. पूर्णकामक।

इसप्रकार हरिवंशपुराण में प्रारंभ के आठ द्वारों के नाम पृथक्-पृथक् बतलाएँ हैं।

''पूर्व दिशा के द्वारों पर भवनवासी देव, हाथ में स्फटिक रत्नमय श्वेतवर्णी तलवार लेकर; दक्षिण दिशा के द्वारों पर व्यंतर देव, स्वर्णमय

1. मूलकृति में आठवाँ नाम उपलब्ध नहीं है।

छड़ी लेकर; पश्चिम दिशा के द्वारों पर ज्योतिषी देव,रत्नमयी गदा लेकर तथा उत्तर दिशा के द्वारों पर कल्पवासी देव, रत्नमयी दण्ड लेकर खड़े होते हैं।

इसप्रकार चेतनदासजी ने तत्त्वार्थसार[1] में सामान्य वर्णन किया है; परन्तु तिलोय पण्णत्ति में कुछ विशेष वर्णन है, जो इसप्रकार है –

''पहले कोट में स्थित द्वारों के द्वारपाल, ज्योतिषी देव हैं।''[2]

''दूसरे कोट में स्थित द्वारों के द्वारपाल, व्यंतर देव हैं।''[3]

''दूसरी वेदी में स्थित द्वारों के द्वारपाल, व्यंतर देव हैं।''[4]

''तीसरे कोट में स्थित द्वारों के द्वारपाल, भवनवासी देव हैं।''[5]

''चौथी वेदी में स्थित द्वारों के द्वारपाल, भवनवासी देव हैं।''[6]

''चौथे कोट में स्थित द्वारों के द्वारपाल, कल्पवासी देव उत्तम रत्नमय भुजदण्ड से मण्डित होते हैं।''[7]

द्वारों के वर्ण

''पहला द्वार पीतवर्णी स्वर्णमय है। दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठवें और सातवें द्वार, श्वेतवर्णी चाँदीमय हैं। आठवें और नौवें द्वार, पन्ना के समान हरित वर्णीय मरकत रत्नमय हैं।

इसप्रकार ये गोपुर–द्वार 100–100 तोरण, 9 निधि, अष्ट मंगल द्रव्य, द्वारपाल, नाट्यशाला और पुतलियों सहित धूपघटों से युक्त होते हैं। **(द्वारों के वर्ण का चित्र पृष्ठ 180 पर देखें।)**

समवशरण के अन्तर्गत कोट, वेदी एवं भूमियाँ

समवशरण की रचना प्रथम धूलिसाल कोट से गंधकुटी के मध्य में स्थित होती है, जिसमें 4 कोट, 5 वेदी और 8 भूमियाँ स्थित हैं। उनके नाम क्रमशः इसप्रकार हैं –

1. तत्त्वार्थसार, पृ.–66 2. तिलोय पण्णत्ति – 4/744 3. तिलोय पण्णत्ति – 4/803
4. तिलोय पण्णत्ति – 4/817 5. तिलोय पण्णत्ति – 4/827
6. तिलोय पण्णत्ति – 4/840 7. तिलोय पण्णत्ति – 4/849

पहला धूलिसाल कोट, पहली चैत्यप्रासाद भूमि, पहली वेदी, दूसरी खातिका भूमि, दूसरी वेदी, तीसरी लता भूमि, दूसरा कोट, चौथी उपवन भूमि, तीसरी वेदी, पाँचवीं ध्वज भूमि, तीसरा कोट, छठवीं कल्पभूमि, चौथी वेदी, सातवीं भवन भूमि, चौथा कोट, आठवीं श्री मण्डप भूमि, पाँचवीं वेदी, तीन पीठ, गंधकुटी, सिंहासनादि अष्ट प्रातिहार्य, भगवान का विहार और समवशरण विघटन।

इन सभी का वर्णन आगे क्रमशः करेंगे। सर्व प्रथम 4 कोटों और 5 वेदियों का सामान्य वर्णन करते हैं।

पहला धूलिसाल कोट, पंचवर्णी तथा इसके स्वर्णमय द्वारों के द्वारपाल ज्योतिषी देव हैं। दूसरा कोट तपे हुए स्वर्ण के समान लाल है तथा इसके चाँदीमय द्वारों के द्वारपाल व्यंतर देव तथा तीसरा कोट भी तपे हुए स्वर्ण के समान लाल है तथा इसके चाँदीमय द्वारों के द्वारपाल भवनवासी देव हैं। **(कोट, वेदी, भूमि का चित्र पृष्ठ 181 पर देखें।)**

चौथा कोट स्फटिक–मणिमय है तथा इसके मरकत मणिमय द्वारों के द्वारपाल कल्पवासी देव हैं।

प्रारंभ की 4 वेदियाँ स्वर्णमयी हैं और पाँचवीं वेदी स्फटिक–मणिमयी हैं। तीसरी वेदी के द्वारों के द्वारपाल, व्यंतर देव हैं और चौथी वेदी के द्वारों के द्वारपाल, भवनवासी देव हैं।

धूलिसाल कोट

धूलिसाल कोट 20,000 सीढ़ियों के पश्चात् गोपुरद्वार के दोनों तरफ यह धूलिसाल कोट अथवा धूलिसाल कोट में ही ये चारों गोपुरद्वार स्थित हैं।

धूलि अर्थात् धूल और साल अर्थात् कोट। जो कोट अनेक प्रकार की धूलों से शोभायमान हो, वह धूलिसाल नामक प्रथम कोट है। यह धूलिसाल कोट पाँच अथवा सात वर्णों से स्फुरायमान होता है। समवशरण के बाहरी भाग में रत्नों की धूल से बने हुए इस धूलिसाल कोट की कांति अतिशय देदीप्यमान होती है।

''इस कोट के नीचे का भाग अंजन के समूह के समान काला है। उसके ऊपर स्वर्ण के समान पीला है। फिर मूँगा की कांति के समान लाल, तोते के पंखों के समान हरितवर्ण, चंद्रकांतमणि के चूर्ण से बना हुआ चाँदनी की शोभा को धारण करते हुए श्वेतवर्ण, पद्मरागमणि और इंद्रनील मणिमय है।

इसप्रकार 5 और 7 वर्णीय होने से इंद्रधनुष के समान ही दिखलाई देता है।''[1] वलय (चूड़ी) के आकार को धारण करता हुआ मानो इन्द्रधनुष ही धूलिसाल कोट के बहाने समवशरण की सेवा कर रहा हो – ऐसा सुशोभित होता है।

प्रश्न – धूलिसाल कोट के वर्णों की संख्या 5 और 7, ऐसी भिन्न-भिन्न क्यों कही जा रही है?

उत्तर – वर्णों की संख्या भिन्न-भिन्न कहे जाने का कारण यह है कि किसी ग्रंथ में 5 और किसी ग्रंथ में 7 वर्णों का उल्लेख है। जैसे – आदिपुराण और तिलोय पण्णत्ति आदि में 5 वर्णों का उल्लेख है।

प्रश्न – तो फिर हम किस कथन को सत्य मानें?

उत्तर – देखिये, इसमें सत्य-असत्य की बात नहीं है; क्योंकि दोनों कथनों के ही प्रमाण मिलते हैं और दूसरी बात यह है कि 5 मानें या 7 मानें, इसमें हमारा कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, कोई लाभ नहीं है और न ही किसी प्रकार के प्रयोजन की हानि ही होती है, इसलिए आगम कथन को प्रमाण मानते हुए दोनों ही कथनों को स्वीकार करना चाहिए।

तथापि आगम कथन की बहुलता की दृष्टि से वर्णों की 5 संख्या ही अधिक उचित प्रतीत होती है और दूसरा कारण यह भी है कि इन 5 वर्णों में जो वर्णों के नाम बतलाए हैं, वे पुद्गल के वर्ण गुण के ही 5 प्रकार (काला, पीला, लाल, नीला[2], सफेद) हैं। इसलिए उपर्युक्त

1. आदिपुराण – 22/84-89 2. धूलिसाल कोट में नीले वर्ण के स्थान पर हरा वर्ण है।

दोनों तर्कों के आधार से वर्णों की संख्या 5 ही होनी चाहिए।

इस कोट पर हाथी, घोड़े और व्याघ्रों के युगल; तोते, हंस और मयूरों के युगल तथा मनुष्य पुरुष-स्त्री के युगलों के चित्र बने हुए हैं।

''धूलिसाल कोट का आकार मानुषोत्तर पर्वत के समान है।''[1] जैसे मानुषोत्तर पर्वत नीचे से अधिक विस्तार वाला है और ऊपर जाते-जाते उसका विस्तार कम होता जाता है तथा पर्वत के अग्रभाग पर कूट बने हुए हैं। उसीप्रकार यह धूलिसाल कोट भी नीचे से अधिक विस्तार वाला है और ऊपर जाते-जाते विस्तार कम होता जाता है तथा कोट के अग्रभाग पर कूट के समान कंगूरे बने हुए हैं।

''ये कंगूरे, बंदर के सिर के आकार वाले होते हैं तथा 1 हाथ 1 वितस्ति (विलस्ति) चौड़े और 1 वेमा[2] ऊँचे होते हैं।''[3] ''धूलिसाल कोट के निचले भाग का विस्तार बारह के वर्ग से भाजित चौबीस कोस प्रमाण अर्थात् 24/144(12ह्व12) = 0.1667 कोस (333.33 धनुष) प्रमाण है तथा मध्य और उपरिम भाग के विस्तार का उपदेश नष्ट हो गया है।''[4] **(धूलिसाल का चित्र पृष्ठ 182 पर देखें।)**

''यह कोट, तीर्थंकर देव के परमौदारिक दिव्य शरीर की ऊँचाई से चौगुनी ऊँचाई वाला है अर्थात् ऋषभ देव के शरीर की ऊँचाई 500 धनुष है। 500 धनुष का चौगुना 2000 धनुष (1 कोस) होता है; अतः धूलिसाल कोट की ऊँचाई 2000 धनुष (1 कोस) प्रमाण है।[5]

''यह धूलिसाल कोट करधनी (कटिसूत्र) के समान है।''[6] ''मार्ग व अट्टालिकाओं से रमणीय, चंचल पताकाओं के समूह से सुन्दर और तीनों लोकों को विस्मित करने वाले 4 गोपुरद्वारों से युक्त है।''[7]

1. तिलोय पण्णत्ति – 4/733
2. जिससे धागा नापा जाता है एक पूरा हाथ और वक्षःस्थल के बराबर
3. हरिवंशपुराण – 57/65 4. तिलोय पण्णत्ति – 4/748
5. तिलोय पण्णत्ति – 4/746 6. आदिपुराण – 22/82 7. तिलोय पण्णत्ति – 4/734

प्रत्येक दिशा में कोट के दोनों ओर एक-एक स्वर्णमय स्तम्भ होते हैं। इसप्रकार चारों दिशाओं में कुल 8 स्तम्भ स्थित होते हैं तथा इन्हीं स्तम्भों पर गोपुरद्वार स्थित होते हैं। ये गोपुरद्वार तोरण, नवनिधि, अष्ट मंगल द्रव्य, द्वारपाल, नाट्यशाला और पुतलियों सहित धूपघटों से युक्त होते हैं। इन पीत वर्णीय स्वर्णमय गोपुरद्वारों के द्वारपाल, ज्योतिषी देव हैं। इन गोपुरद्वारों में स्थित तोरण, धूलिसाल कोट से भी अधिक ऊँचे होते हैं।

इसप्रकार अनेक रत्नों की धूल से बने हुए तथा अनेक चित्रों से चित्रित यह प्रथम धूलिसाल कोट, वज्रमय नीव पर स्थित सातिशय देदीप्यमान होता है।

आठ भूमियाँ

1. पहली चैत्यप्रासाद भूमि

पहले धूलिसाल कोट के बाद और पहली वेदी के पहले अथवा पहले कोट और पहली वेदी के मध्य में यह पहली चैत्यप्रासाद भूमि स्थित है।

चैत्य अर्थात् जिन प्रतिमा, परन्तु ''तिलोय पण्णत्ति में चैत्य का अर्थ जिनभवन ही किया है।''[1] इस भूमि में चैत्य और प्रासाद अर्थात् महल स्थित होते हैं; अतः इस भूमि को चैत्यप्रासाद भूमि कहते हैं।

''इस भूमि में पाँच प्रासादों के बाद एक चैत्य स्थित होता है। पुनः पाँच प्रासादों के बाद एक चैत्य होता है। इसप्रकार पाँच-पाँच प्रासादों के बाद एक-एक चैत्य स्थित होता है अथवा एक-एक चैत्य के बाद पाँच-पाँच प्रासाद स्थित होते हैं।''[2]

''चैत्य और प्रासादों की ऊँचाई, तीर्थंकरों के परमौदारिक दिव्य देह से बारह गुणा होती है''[3] अर्थात् चैत्य और प्रासादों की ऊँचाई

1. तिलोय पण्णत्ति - 4/752 2. तिलोय पण्णत्ति - 4/752 3. तिलोय पण्णत्ति - 4/753

6000 धनुष (3 कोस) प्रमाण होती है तथा इनकी लंबाई और विस्तार के प्रमाण का उपदेश नष्ट हो गया है।

प्रासादों के चारों तरफ उपवन होते हैं तथा इन उपवनों में वापिकाएँ, कूप आदि स्थित होते हैं। महावीथी में स्थित मनुष्य आदि जब इस भूमि में प्रवेश करते हैं तब वे सर्वप्रथम नाट्यशालाओं को अपने दोनों ओर देखते हैं अर्थात् चैत्यप्रासाद भूमि के प्रवेश द्वारों के आगे दोनों पार्श्व भागों में एक-एक नाट्यशाला स्थित होती है। इन नाट्यशालाओं के दोनों तरफ दो-दो धूपघट भी होते हैं।

यह चैत्यप्रासाद भूमि चारों तरफ से गोल है। एक दिशा में चैत्यप्रासाद भूमि के दो द्वार हैं। एक द्वार संबंधी दो नाट्यशालायें होती हैं। इसप्रकार चारों दिशाओं में कुल 8 प्रवेश द्वार होते हैं और इन 8 द्वारों संबंधी 16 नाट्यशालायें होती हैं।

''इसप्रकार पहली चैत्यप्रासाद भूमि में स्वर्ण और रत्नों से निर्मित कुल 16 नाट्यशालाएँ होती हैं।''[1] इन नाट्यशालाओं की रचना पूर्व की नाट्यशालाओं के समान ही है। अतः रचना जानने हेतु पूर्व का पुनः अवलोकन कीजिए। **(पहली चैत्यप्रासाद भूमि का चित्र पृष्ठ 183 पर देखें।)**

इस भूमि का विस्तार 3666 धनुष प्रमाण है। पहला कोट और पहली चैत्यप्रासाद भूमि - ये दोनों ही आधे योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित हैं; परन्तु किन्हीं आचार्यों ने इस चैत्यप्रासाद भूमि को स्वीकार ही नहीं किया है, केवल खातिका भूमि का ही विस्तार 1 योजन स्वीकार किया है; लेकिन तिलोय पण्णत्ति में पहला कोट, पहली भूमि, पहली वेदी और दूसरी भूमि इन सबका विस्तार 1 योजन प्रमाण स्वीकार किया है।

हरिवंशपुराण, आदिपुराण में आचार्य जिनसेन स्वामी ने सर्वप्रथम

1. तिलोय पण्णत्ति - 4/756

मानस्तम्भ का वर्णन किया, तत्पश्चात् पहले कोट का, तत्पश्चात् सीधे खातिका भूमि का वर्णन किया है। चैत्यप्रासाद भूमि और पहली वेदी का वर्णन ही नहीं किया है अर्थात् जिनसेन स्वामी चैत्यप्रासाद भूमि और पहली वेदी के संबंध में मौन हैं।

मानस्तम्भ

1 योजन चौड़ी महावीथी के मध्य में चैत्यप्रासाद भूमि के पार्श्व भागों में 1-1 मानस्तम्भ स्थित है। यह मानस्तम्भ जिस भूमि पर स्थित है, उस भूमि को तिलोयपण्णति में 'मानस्तम्भ भूमि' और हरिवंशपुराण में मानांगण भूमि' कहकर अभिहित किया है।

इस भूमि को 3 कोटों ने घेर रखा है तथा एक कोट के चारों दिशाओं में 1-1 गोपुरद्वार है। इसीप्रकार तीनों कोटों की चारों दिशाओं में 4-4 गोपुरद्वार हैं। **(मानस्तम्भ का चित्र पृष्ठ 184 पर देखें।)**

इन तीनों कोटों के मध्य मानस्तम्भ भूमि अथवा मानांगण भूमि पर पीठ स्थित हैं। इस पीठ को पीठिका भी कहते हैं।

तिलोयपण्णति में पीठों की संख्या तीन कही है; परन्तु हरिवंशपुराण और आदिपुराण में 3 कटनीदार पीठिका कही हैं; लेकिन दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है, मात्र शब्दों की भिन्नता है। यदि दोनों कथनों के अनुसार चित्र बनाएं तो दोनों के चित्र समान ही बनेंगे। इस भाँति तीनों पीठों के वर्ण, लम्बाई, चौड़ाई, भिन्न-भिन्न हैं। जैसे -

तीनों पीठों के वर्ण -

- प्रथम पीठ - वैडूर्यमणिमय।
- द्वितीय पीठ - सुवर्णमय।
- तृतीय पीठ - अनेक रत्नमय

तीनों पीठों की ऊँचाई -

- प्रथम पीठ - 8 धनुष ऊँची।
- द्वितीय पीठ - 4 धनुष ऊँची।
- तृतीय पीठ - 4 धनुष ऊँची।

प्रथम व द्वितीय पीठों के विस्तार का उपदेश नष्ट हो गया है तथा तृतीय पीठ 1000 धनुष प्रमाण विस्तार वाली है। ''तीसरी पीठ अथवा पीठिका पर देव और मनुष्य बैठकर भगवान की पूजन आदि करते हैं तथा वहाँ पूजन के अर्थ पुष्पादि का उपहार रखा रहता है।''[1]

हरिवंशपुराण में इसी पूजन के स्थान को 'आस्थांगण भूमि' कहा है। यह लाल वर्णीय होती है तथा भगवान के अभिषेक के जल से पवित्र होती है। वहाँ देव और मनुष्यों के द्वारा पूजन के साथ-साथ नृत्य, वादित्र और जिनेन्द्र देव के मंगल गाने वाले गान होते रहते हैं।

''इस आस्थांगण भूमि तक पहुँचने के लिए स्वर्णमय 16 सीढ़ियाँ होती हैं।''[2] इसी को विशेष रूप से स्पष्ट करते हुए तिलोय पण्णत्तिकार आचार्य यतिवृषभ देव लिखते हैं -

प्रथम पीठ 8 सीढ़ियाँ, द्वितीय पीठ 4 सीढ़ियाँ, तृतीय पीठ 4 सीढ़ियाँ तथा इन सीढ़ियों की ऊँचाई और विस्तार का उपदेश नष्ट हो गया है; तथापि पीठों की ऊँचाइयों के माध्यम से सीढ़ियों की ऊँचाई निकाल सकते हैं। जैसे -

प्रथम पीठ 8 धनुष ऊँची होने से सीढ़ियाँ भी 8 ही हैं।

द्वितीय पीठ 4 धनुष ऊँची होने से सीढ़ियाँ भी 4 ही हैं।

तृतीय पीठ 4 धनुष ऊँची होने से सीढ़ियाँ भी 4 ही हैं। अतः 1 सीढ़ी की ऊँचाई 1 धनुष प्रमाण है।

1. आदिपुराण - 22/94   2. आदिपुराण - 22/94

इसप्रकार मानस्तम्भ भूमि से 16 धनुष ऊपर 1000 धनुष विस्तार वाली तीसरी पीठ पर मानस्तम्भ स्थित है।

तिलोय पण्णत्ति के अनुसार यह मानस्तम्भ 998 धनुष चौड़ा है और हरिवंशपुराण के अनुसार यह मानस्तम्भ 999 धनुष प्रमाण चौड़ा है।

प्रश्न – तीसरी पीठ 1000 धनुष प्रमाण चौड़ी है और मानस्तम्भ 999/998 धनुष प्रमाण चौड़ा है, तब मात्र 1/2 धनुष प्रमाण आस्थांगण भूमि में अनेक देव और मनुष्य एक साथ पूजनादि कैसे करते हैं?

उत्तर – समवशरण इंद्र की आज्ञा से कुबेर की पृथक् विक्रिया द्वारा बनाया गया है। उसमें स्थान की हीनता दिखते हुए भी स्थान की हीनता नहीं होती है। जैसे आठवीं श्री मण्डप भूमि की 12 सभाओं के संख्यात क्षेत्र में पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात देव, संख्यात मनुष्य और तिर्यंच बिना किसी बाधा के परस्पर स्पर्श हुए बिना ही सुख से बैठते हैं।

इसीप्रकार यहाँ क्षेत्र की अल्पता दिखते हुए भी इसमें अनेक देव–मनुष्यादि सुख पूर्वक बैठकर पूजनादि करते हैं। यह सब तीर्थंकर देव का माहात्म्य, गणधर देव की अक्षीण महालय नामक ऋद्धि के प्रताप से और जीवों के भाग्य से होता है।

मानस्तम्भ तीर्थंकर देव के परमौदारिक दिव्य देह से 12 गुने ऊँचे होते हैं अर्थात् मानस्तम्भ 6000 धनुष (3 कोस) प्रमाण ऊँचे होते हैं; परन्तु हरिवंशपुराण में मानस्तम्भ की ऊँचाई 1 योजन से कुछ अधिक कही है।

मानस्तम्भ 2000 धाराओं सहित गोलाकार होते हैं। पीठों के समान मानस्तम्भ भी 3 वर्ण वाले होते हैं। नीचे का 2000 धनुष प्रमाण भाग हीरे से निर्मित है तथा जो ''वज्रमय द्वारों से युक्त है।''[1] मध्य का 2000 धनुष प्रमाण भाग स्फटिक से निर्मित है तथा इसके वज्रमय

1. तिलोय पण्णत्ति – 4/779

कपाट भी होते हैं। ऊपर का 2000 धनुष प्रमाण भाग वैडूर्यमणि से निर्मित है और यह उपरिम भाग चमर, घंटा, किंकिणी, रत्नहार एवं ध्वज इत्यादि से विभूषित है।

मानस्तम्भों के शिखरों पर 4-4 प्रतिमाएँ विराजमान होती हैं। तिलोय पण्णत्ति के अनुसार ये प्रतिमाएँ अरिहंत परमेष्ठी की होती हैं तथा हरिवंशपुराण के अनुसार ये प्रतिमाएँ सिद्ध परमेष्ठी की होती हैं। ''आदिपुराण[1] और रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका[2] के अनुसार तो मूल (नीचे) में भी रत्नमय और स्वर्णमय सिद्ध प्रतिमा विराजमान होती हैं और इनका अभिषेक इन्द्र क्षीरसागर के जल से करते हैं – ऐसा कहा है।''

प्रश्न – सिद्ध प्रतिमा और अरहंत प्रतिमा में क्या अन्तर है?

उत्तर – अरिहंत प्रतिमा अष्ट प्रातिहार्यों से संयुक्त होती है, किन्तु सिद्ध प्रतिमा अष्ट प्रातिहार्यों से रहित होती है। जैसा कहा भी है –

''1. वसुनंदी प्रतिष्ठा पाठ तृतीय परिच्छेद –

प्रातिहार्याष्टकोपेतं संपूर्णावयवं शुभम्।
भावरूपानुविद्धांगं, कारयेत् बिम्बमर्हता।।69।।
प्रातिहार्यैर्विना शुद्धं, सिद्धं बिम्बमपीदृशः।
सूरीणां पाठकानां च, साधूनां च यथागमम्।।70।।

अर्थ – अष्ट प्रातिहार्यों से युक्त संपूर्ण अवयवों से सुन्दर तथा जिनका सन्निवेश (आकृति) भाव के अनुरूप है, ऐसे अरिहंत बिम्ब का निर्माण करें।।69।।

सिद्ध प्रतिमाएँ शुद्ध एवं अष्ट प्रातिहार्यों से रहित होती हैं। आगमानुसार आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं की प्रतिमाओं का भी निर्माण करें।।70।। **(अरहन्त, सिद्ध प्रतिमा का चित्र पृष्ठ 185 पर देखें।)**

2. जयसेन प्रतिष्ठा पाठ के बिम्ब निर्माण प्रकरण में भी कहा है कि –

1. आदिपुराण – 22/98 2. रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका – 413 पृष्ठ

सल्लक्षणं भाव-विवृद्धि-हेतुकं,
सम्पूर्ण-शुद्धावयवं दिगम्बरम्।
सत्प्रातिहार्यैर्निज-चिह्नभासुरं,
संकारयेद्बिम्ब-मथार्हतः शुभम्।।180।।
सिद्धेश्वराणां प्रतिमाऽपि योज्या,
तत्प्रातिहार्यादि विना तथैव।
आचार्य-सत्पाठक-साधु-सिद्ध-
क्षेत्रादिकानामापि भाववृद्धयै।।181।।

अर्थ – प्रशस्त हैं लक्षण जिनके, जो भावों की विशुद्धि में कारण हैं; निर्दोष, सर्व अवयवों से सहित, नग्न दिगम्बर, सुन्दर प्रातिहार्यों एवं स्वकीय चिह्न से सम्बन्धित हैं, ऐसे मनोहर अरिहंत बिम्ब का निर्माण कराएं।।180।।

इसीप्रकार भावों की विशुद्धि के लिए प्रातिहार्य – बिना सिद्धों की, आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं की भी प्रतिमाओं का निर्माण कराएं। सिद्ध क्षेत्र आदि की आकृतियों की भी स्थापना करें।।181।।

3. प्रतिष्ठा सारोद्धार के प्रथम अध्याय में भी कहा है कि –

शान्तप्रसन्न-मध्यस्थ-नासाग्रस्थाविकारदृक्।
सम्पूर्ण-भावरूपानु-विद्धांगं लक्षणान्वितम्।।63।।
रौद्रादिदोष-निर्मुक्तं, प्रतिहार्याङ्कयक्षयुक्।
निर्माप्य विधिना पीठे, जिनबिम्बं निवेशयेत्।।64।।

अर्थात् शान्त, प्रसन्न, मध्यस्थ, नासाग्र और अविकार दृष्टि, सम्पूर्ण भावानुरूप, स्वकीय लक्षण से समन्वित, रौद्रादि (क्रूर) दृष्टि रहित तथा यक्ष-यक्षिणी से सहित जिनबिम्ब का निर्माण कराकर विधि पूर्वक वेदिका में विराजमान करें।।63-64।।''[1]

यहाँ कोई कह सकता है कि उपर्युक्त प्रमाणों में कहीं भी शरीर का वर्णन नहीं है और सिद्धों के स्वरूप में भी शरीर रहित की ही चर्चा

आती है तथा समाज में प्रचलित सिद्ध प्रतिमा भी शरीर रहित ही होती है; अतः आत्मप्रदेशों का आकार मात्र ही उचित प्रतीत होता है।

भगवती आराधना की विजयोदया टीका में आचार्य अपराजित देव ने भी इसीप्रकार का प्रश्न उपस्थित करके समाधान किया है। जो इसप्रकार है –

''**शंका** – शरीर सहित आत्मा का प्रतिबिम्ब तो युक्त है; परन्तु शरीर रहित शुद्ध सिद्धात्माओं का प्रतिबिम्ब कैसे संभव है?

समाधान – पूर्वभाव प्रज्ञापन नय की अपेक्षा जो आत्मा शरीर में था, वह सयोग केवली हो या अन्य हो, उसे शरीर से अलग नहीं किया जा सकता। यदि उसे शरीर से पृथक ही सर्वथा कर दिया जाए तो उसका संसारीपना नहीं बनता; क्योंकि शरीर रहित हो और संसारी हो, यह तो परस्पर विरुद्ध है; अतः शरीर के आकार की तरह चेतन (सिद्ध) आत्मा भी आकारवान ही है; क्योंकि वह आकारवान से अभिन्न है, जैसे शरीर में रहनेवाला आत्मा। वही सम्यक्त्वादि आठ गुणों से सहित है। इसप्रकार सिद्ध की स्थापना संभव है।''•

इसप्रकार विभिन्न आगम प्रमाणों के आधार से आठ प्रातिहार्यों रहित और शरीर सहित ही सिद्ध प्रतिमा होती है। ऐसी अरहंत और सिद्ध प्रतिमाएँ समवशरण में मानस्तम्भादि विभिन्न स्थानों पर सुशोभित होती हैं।

''मानस्तम्भ लक्ष्मीदेवी के चूड़ा रत्न के समान अपनी कान्ति के समूह से 20 योजन तक का क्षेत्र प्रकाशित करते रहते हैं।''[2] तथा मानस्तम्भ के दर्शन 12 योजन दूर स्थित क्षेत्र से भी हो जाते हैं अर्थात् एक दिशा के मानस्तम्भ के दर्शन उससे विपरीत दिशा के अन्त से हो

1. त्रिलोकसार टीका (श्री मन्माधवचंद्रत्रविद्यदेवकृत) – 1002 गाथा
• भगवती आराधना की विजयोदया टीका, गाथा-45
2. हरिवंशपुराण – 57/18

जाते हैं; क्योंकि समवशरण का विस्तार एक कोने से दूसरे कोने तक 12 योजन प्रमाण होता है।

मानस्तम्भ के मस्तक पर 3 छत्र स्थित हैं। इनकी रचना इन्द्र के द्वारा होती है; अतः इन मानस्तम्भों को **'इन्द्रध्वज'** भी कहते हैं। ये मानस्तम्भ आकाश को स्पर्श करते हैं, महाप्राण के धारक हैं, घण्टों से घिरे, चमर तथा ध्वजाओं से सहित हैं; जो दिग्गज के समान सुशोभित होते हैं।

मानस्तम्भ को देखने से मिथ्यादृष्टि का मान गलित हो जाता है अथवा मानस्तम्भ को देखने से मिथ्यादृष्टियों का मान स्तम्भित हो जाता है; अतः इन्हें 'मानस्तम्भ' कहते हैं।

मानस्तम्भ जिस भूमि पर स्थित हैं ऐसी मानस्तम्भ भूमि अथवा मानांगण भूमि अथवा जगती, तीन कोटों के द्वारा घिरी हुई है। ये तीनों कोट, चारों दिशाओं में एक-एक गोपुर-द्वारों सहित हैं अर्थात् एक कोट के चार गोपुर-द्वार होते हैं। इसीप्रकार अन्य दोनों कोट भी 4-4 गोपुर-द्वारों से युक्त होते हैं।

ये तीनों ही कोट नाचती हुई ध्वजाओं (पताकाओं) से सहित और मणियों की किरणों से दिग्मण्डल को प्रकाशित करने वाले होते हैं।

पहले कोट के आगे चारों विदिशाओं में अर्थात् आग्नेय, नैऋत्य, वायव्व और ईशान - इन चार विदिशाओं में लोकपालों के अपने-अपने दिव्य-क्रीड़ापुर होते हैं तथा इनके आगे वन-वापिकाएँ होती हैं, जो प्रफुल्लित नीलकमलों से शोभायमान हैं।

इनके बाद दूसरा कोट आता है तथा दूसरे कोट के आगे पूर्व दिशा में 'सोम' नामक लोकपाल, दक्षिण दिशा में 'यम' नामक लोकपाल, पश्चिम दिशा में 'वरुण' नामक लोकपाल और उत्तर दिशा में 'कुबेर' नामक लोकपाल के रमणीय महाक्रीड़ा नगर होते हैं।

इनके आगे वन खण्ड हैं; जो विविध प्रकार के दिव्य वृक्षों से युक्त

होते हैं, सुन्दर कोयलों के कल-कल शब्दों से मुखरित होते हुए हिम और किन्नर युगलों से संकीर्ण होते हैं।

इनके आगे तीसरा कोट आता है और इस तीसरे कोट के चारों गोपुरद्वारों के सामने एक-एक वापिका होती है।

वापिका

तीसरे कोट के गोपुरद्वारों के सामने एक-एक वापिका होती है। तिलोय पण्णत्ति में 'द्रह', आदिपुराण में 'वापी' और रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका में पंडित सदासुखदासजी ने वापिकाओं को 'बावड़ी' कहा है। **(वापिका का चित्र पृष्ठ 186 पर देखें।)**

ये वापिकाएँ समचतुष्कोण (Square) के आकार की होती हैं। कमलादि से संयुक्त, टंकोत्कीर्ण, वेदिका, 4 तोरण द्वारों एवं रत्नमालाओं से रमणीय होती हैं।

वे कमल, सफेद और नील वर्ण के तथा फूले हुए हैं। उन पर भ्रमरों का समूह बैठा रहता है। जिनसे वापिकाएँ इसप्रकार सुशोभित होती हैं कि मानों भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र देव की लक्ष्मी को देखने के लिए पृथ्वी ने ही अपने नेत्रों को उघाड़ लिया हो।

वापिकाओं के किनारों पर पक्षियों की शब्द करती हुई पंक्तियाँ बैठी रहती हैं। वे शब्द ऐसे लगते हैं मानों वापिकाएँ ही शब्द कर रही हों तथा ये पंक्ति ढीली करधनी के समान सुशोभित होती हैं।

"वापिकाओं में मणियों की सीढ़ियाँ हैं, जो जल क्रीड़ा के योग्य स्थान ही हुआ करती हैं। उनके किनारों की जमीन ऊँची उठी हुई तथा स्फटिकमणि से निर्मित होती है।"[1]

प्रश्न – जलक्रीड़ा कौन-कौन करते हैं?

उत्तर – "इन वापिकाओं में व्यंतर, भवनवासी, ज्योतिषी और कल्पवासी देव क्रीड़ा में प्रवृत्त होते हैं। मनुष्य और किन्नरों के कुंकुम से

1. आदिपुराण – 22/107

पंक पीत वर्णमय हो जाता है तथा वापिकाएँ कृत्रिम नदी के समान सुशोभित होती हैं।''[1]

प्रत्येक महादिशा में प्रत्येक दिशा की वापिकाओं के नाम भिन्न-भिन्न हैं। जैसे-

पूर्व दिशा की वापिकाओं के नाम –

पूर्व वापिका नंदोत्तरा, दक्षिण वापिका नंदा, पश्चिम वापिका नंदिमती, उत्तर वापिका नंदघोषा।

दक्षिण दिशा की वापिकाओं के नाम –

पूर्व वापिका विजया, दक्षिण वापिका वैजयंता, पश्चिम वापिका जयंता, उत्तर वापिका अपराजिता।

पश्चिम दिशा की वापिकाओं के नाम –

पूर्व वापिका अशोका, दक्षिण वापिका सुप्रतियुद्धा (सुप्रसिद्धा/सुप्रबुद्धा), पश्चिम वापिका कुमुदा, उत्तर वापिका पुण्डरीका।

उत्तर दिशा की वापिकाओं के नाम –

पूर्व वापिका हृदयानंदा, दक्षिण वापिका महानंदा, पश्चिम वापिका सुप्रतिबुद्धा, उत्तर वापिका प्रभंकरा।

इसप्रकार चार महादिशाओं में कुल 16 वापिकाएँ स्थित हैं।

कुण्ड

प्रत्येक कमलखण्ड अर्थात् द्रह (वापिका) के आश्रित निर्मल जल से परिपूर्ण 2-2 कुंड होते हैं; जिनमें देव, मनुष्य और तिर्यंच अपने पैरों की धूल को धोकर अंदर प्रवेश करते हैं।

महावीथी में स्थित मानस्तम्भ के चारों गोपुरद्वारों के सामने स्थित प्रत्येक वापिका के दोनों तटों पर 2-2 कुंड होते हैं अर्थात् एक वापिका के कुल 4 कुंड होते हैं।

1. तिलोय पण्णत्ति - 4/790

इसप्रकार एक महावीथी में मानस्तम्भ संबंधि कुल 16 कुंड होते हैं; चारों महावीथियों में कुल 64 कुंड होते हैं। ''ये कुण्ड वापिकाओं के पुत्रों के समान ही सुशोभित होते हैं।''[1]

''मुनिसुव्रत काव्य में कहा है कि –

दुःखौघ सर्जनपटूं स्त्रिजगत्यजेयान्।
साक्षान्निहत्य चतुरोपि च घातिशत्रून्।।
स्तम्भाः जयादयः इव प्रभुणा निखाताः।
स्तम्भाः बभुः प्रतिदिशं किल मानपूर्वाः।।10-31।।

घातिया कर्मों का क्षय करके जिनेन्द्र ने मानस्तम्भ के रूप में प्रत्येक दिशा में मानों विजय स्तम्भ ही स्थापित किए हों।'' इसप्रकार 4 वापिकाओं, 3 कोट, 3 पीठ और जिनप्रतिमाओं से युक्त मानस्तम्भ मनोहर दिखलाई देते हैं।

पहली वेदी

पहली चैत्यप्रासाद भूमि के बाद और दूसरी खातिका भूमि के पहले अथवा पहली और दूसरी भूमि के मध्य में यह पहली वेदी स्थित है।

वेदी और कोट दोनों ही भूमियों का विभाजन करते हैं। वेदी के मूल, मध्य और उपरिम भाग का विस्तार समान होता है; अतः वेदी दीवाल के समान होती है। इस वेदी का विस्तार प्रथम धूलिसाल कोट के मूल विस्तार के समान 0.16667 कोस (333.33धनुष) प्रमाण तथा उँचाई का उपदेश प्राप्त नहीं हुआ है।

यह वेदी उत्तम रत्नमय ध्वजा, तोरण और घंटों के समूह से युक्त है तथा पूर्व में कहे धूलिसाल कोट के समान 4 गोपुर-द्वारों से युक्त है। गोपुर-द्वार भी 100-100 तोरण, नव निधि, अष्ट मंगल द्रव्य, द्वारपाल और पुतलियों सहित धूपघटों से युक्त हैं।

प्रश्न – कोट और वेदी में क्या अन्तर है?

1. आदिपुराण - 22/110

उत्तर – 1. कोट का मूल विस्तार अधिक होता है तथा मध्य और उपरिम भाग का विस्तार क्रमशः घटता जाता है; परन्तु वेदी के मूल, मध्य और उपरिम भाग का विस्तार समान होता है।

2. कोट मानुषोत्तर पर्वत के समान होता है और वेदी दीवाल के समान होती है। **(वेदी का चित्र पृष्ठ 186 पर देखें।)**

3. कोट के ऊपर कंगूरे होते हैं; परन्तु वेदी के ऊपर कंगूरे नहीं होते हैं।

4. समवशरण में कोट 4 होते हैं तथा वेदी 5 होती हैं।

प्रश्न – कोट और वेदी में कुछ समानताएँ भी हैं क्या?

उत्तर – हाँ, कोट और वेदी में कुछ समानताएँ भी हैं। जैसे –

1. कोट के मूल भाग का विस्तार और वेदी के मूल भाग का विस्तार समान होता है।

2. दोनों ही भूमियों का विभाजन करते हैं।

3. दोनों ही चार-चार तोरण द्वारों ध्वज और घटों से युक्त होते हैं।

दूसरी खातिका भूमि

पहली वेदी के बाद और दूसरी वेदी के पहले अथवा पहली और दूसरी वेदी के मध्य में यह दूसरी खातिका भूमि स्थित है।

इस भूमि में खाई है; अतः इस भूमि को खातिका भूमि कहते हैं। हरिवंशपुराण और आदिपुराण में इस खातिका भूमि को 'परिखा' कहा है। परिखा का अर्थ भी खाई होता है। परि अर्थात् 'चारों ओर से', खा अर्थात् 'खाई'। जो खाई चारों दिशाओं में हो उसे परिखा कहते हैं।

''यह परिखा (खातिका भूमि) तीर्थंकर देव के शरीर की ऊँचाई से चतुर्थ भाग प्रमाण गहरी होती है।''[1] अर्थात् ऋषभदेव के परमौदारिक शरीर की ऊँचाई 500 धनुष है तथा 500 धनुष का चौथाई भाग 125 धनुष होता है; अतः यह परिखा (खातिका) 125 धनुष प्रमाण गहरी है।

1. तिलोय पण्णत्ति – 4/795

125 धनुष गहरी ''खातिका में घुटनों प्रमाण जल होता है।''[1] ''जिसमें फूले हुए कुमुद, कुवलय और कमलों के वन होते हैं। जिनके आमोद से संपूर्ण खातिका सुगंधित होती है तथा हंसों के समान प्रवृत्ति करने वाले पक्षियों सहित मणिमय सीढ़ियाँ होती हैं।''[2]

इसे ही अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य जिनसेन स्वामी आदिपुराण में लिखते हैं –

''यह परिखा समवशरण भूमि को चारों तरफ से घेरे हुए है और स्वच्छ जल से भरी हुई है। यह स्वच्छ जल स्फटिक मणि के निष्यन्द के समान दिखलाई देता है तथा वह स्वच्छ जल आकाश-गंगा के समान दिखलाई देता है, मानो आकाश गंगा ही भगवान की सेवा करने के लिए आई हो।

स्वच्छ जल में तारों और नक्षत्रों के प्रतिबिम्ब दिखलाई देते हैं। वह परिखा स्वर्णमय कमलों से व्याप्त है तथा वे कमल 1000-1000 पंखुड़ियों वाले हैं।

परिखा में मछलियाँ भी हैं। जो मछलियाँ पानी के ऊपर प्रकट होती हैं, वे देवांगनाओं के नेत्र-विलास के समान दिखलाई देती हैं और जो मछलियाँ पुनः पानी के भीतर डुबकी लगाती हैं, वे लज्जाशील देवांगनाओं के समान दिखलाई देती हैं अर्थात् मानो देवांगनाएँ नेत्र विलास से पराजित होकर ही लज्जावश लहरों में छिप रही हों।

यह परिखा मछली आदि जलचर जीवों की भुजाओं के संगठन से उठी हुई तथा वायु द्वारा ताड़ित हुई लहरों से सुशोभित होती है; भगवान के विजयोत्सव में संतोष रखती हुई नित्य नृत्य करती हुई प्रतीत होती है।''[3] **(दूसरी खातिका भूमि का चित्र पृष्ठ 187 पर देखें।)**

''खातिका के किनारों पर मणिमय और रत्नमय सीढ़ियाँ हैं। जो 1 हाथ ऊँची और 1 हाथ चौड़ी हैं।''[1] ''इनके किनारों पर पक्षियों की

1. हरिवंशपुराण – 57/21 2. तिलोय पण्णत्ति – 4/796 3. आदिपुराण – 22/111-117

माला (पंक्ति) मधुर शब्द करती हुई स्थित है तथा कान्तिमय करधनी के समान प्रतीत होती है।।''[2]

इस खातिका भूमि का विस्तार (चौड़ाई) पहली चैत्यप्रासाद भूमि के विस्तार के समान 24 के वर्ग से भाजित 264 योजन प्रमाण अर्थात् 3666 धनुष प्रमाण है।

इसप्रकार पहला कोट, पहली भूमि, पहली वेदी और दूसरी भूमि – ये सब (333.33+3666+333.33+3666=7998.66 धनुष) एक योजन (8000 धनुष) प्रमाण विस्तृत क्षेत्र में स्थित हैं; परन्तु हरिवंशपुराण, आदिपुराण और रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका में प्रथम कोट और खातिका भूमि – इन दोनों को ही 1 योजन विस्तृत क्षेत्र में स्थित माना है।

इसप्रकार यह खातिका स्वच्छ जल, कुमुद, कुवलय और कमल इत्यादि के द्वारा रमणीय दिखलाई देती है।

दूसरी वेदी

दूसरी खातिका भूमि के बाद और तीसरी लता भूमि के पहले अथवा दूसरी और तीसरी भूमि के मध्य में यह दूसरी वेदी स्थित है।

यह दूसरी स्वर्णमय वेदी पहली वेदी से दुगुणे विस्तार वाली है अर्थात् 0.3332 कोस (666.66 धनुष) प्रमाण विस्तृत है।

इस वेदी के मूल, मध्य और उपरिम भाग भी समान विस्तार वाले तथा दीवाल के समान हैं और यह वेदी उत्तम रत्नमय ध्वजा, तोरण और घंटों के समूह से युक्त है।

यह वेदी चारों दिशाओं में एक-एक श्वेतवर्णीय चाँदीमय गोपुर-द्वारों से युक्त है। जो 100-100 तोरण, नव निधि, अष्ट मंगल द्रव्य, द्वारपाल, नाट्यशाला और पुतलियों सहित धूपघटों से युक्त हैं तथा हरिवंशपुराण, आदिपुराण और रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका में इस दूसरी वेदी का उल्लेख नहीं है।

1. तत्त्वार्थसार, पृष्ठ-70 2. आदिपुराण – 22/114

तीसरी लता भूमि

दूसरी वेदी के बाद और दूसरे कोट के पहले अथवा दूसरी वेदी और दूसरे कोट के मध्य में यह तीसरी लता भूमि स्थित है।

इस तीसरी लता भूमि को तिलोय पण्णत्ति में 'वल्ली भूमि', तत्त्वार्थसार में 'पुष्पवाटिका' और हरिवंशपुराण व आदिपुराण में 'लता वन' कहा है।

यह तीसरी लता भूमि पुन्नाग, नाग, कुब्जक, शतपत्र, अतिमुक्त इत्यादि से संयुक्त, क्रीड़ा-पर्वतों से अतिशय शोभायमान और मणिमय सोपानों से मनोहर, वापिकाओं से विकसित और कमल-समूह से युक्त है।

आदिपुराण में इसी लता भूमि का अनेक उपमाओं के माध्यम से सजीव चित्रण किया है –

''यह लतावन लताओं, झाड़ियों और वृक्षों वाला है। झाड़ियों और वृक्षों पर छहों ऋतुओं के फल और फूल लगे हुए हैं। इसीप्रकार लताओं पर भी पुष्प लगे हुए हैं। जिनके कारण इन्हें पुष्प-लता भी कहते हैं; अतः चेतनदासजी ने इसे 'पुष्पवाटिका' कहा है। मानो पुष्प रूपी हास्य से उज्ज्वल अनेक पुष्पलताएँ देवांगनाओं के मंद-मंद हास्य का ही अनुकरण करती हों – ऐसी प्रतीत होती हैं तथा वे लताएँ ऐसी सुशोभित होती हैं, मानो लतावन ने अपना शरीर नील वस्त्र से ही ढक लिया हो।

अशोक-लताओं ने लालवर्ण वाले पत्तों को धारण कर रखा है मानो अप्सराओं के लाल हाथ रूपी पल्लवों के साथ ही स्पर्धा कर रही हों।

वे पुष्प गुंजार करते हुए भ्रमरों से भी व्याप्त हैं। जो ऐसे प्रतीत होते हैं

मानो हजारों नेत्रों को धारण करने वाले इन्द्र के विलास की विडंबना ही कर रहे हों।

जब भ्रमर कुसुमित और रजस्वला स्त्री रूपी लताओं के मधुर रस का पान करते हैं तब उन्हें पवित्रता और अपवित्रता का किंचित् मात्र भी ज्ञान नहीं रहता है। जैसे मदिरा पान करने वाले पुरुष को पवित्रता और अपवित्रता का कुछ भी विचार नहीं रहता है और रजोधर्म से युक्त स्त्री का स्पर्श करने लगता है; वैसे ही उन भ्रमरों को पवित्रता और अपवित्रता का कुछ भी विचार नहीं रहते हुए मात्र कुसुमित और रजस्वला लतावन का स्पर्श करते हैं; परन्तु वास्तव में कुसुमित और रजस्वला लताएँ अपवित्र नहीं हैं।

मंद-मंद वायु के द्वारा यहाँ सम्पूर्ण वन में केशर व्याप्त हो गई है; जिसके कारण समस्त दिशाएँ पीली हो गई हैं। उसी वायु के कारण वे लताएँ धीरे-धीरे हिल रही हैं। इसप्रकार लताएँ सुशोभित होती हैं।''[1]

लतावनों के बीच में लतागृह भी होते हैं। उन लतागृहों के बीच में बर्फ के समान अहिताल चंद्रकांतमणि की शिलाएँ होती हैं। जिस पर इंद्र विश्राम करते हैं। **(तीसरी लता भूमि का चित्र पृष्ठ 188 पर देखें।)**

लतावन में अनेक क्रीड़ा पर्वत भी हैं। इन पर्वतों से लताभूमि अत्यधिक शोभायमान होती है।

इसप्रकार यह लताभूमि पहली चैत्यप्रासाद भूमि से दुगुणी विस्तारवाली है अर्थात् 7232 धनुष प्रमाण है। इसप्रकार दूसरी वेदी और तीसरी लताभूमि - दोनों (666.66+7332=7998.66) 1 योजन (8000 धनुष) विस्तृत क्षेत्र में स्थित हैं।

1. आदिपुराण - 22/122

दूसरा कोट

तीसरी लता भूमि के बाद और चौथी उपवन भूमि के पहले अथवा तीसरी और चौथी भूमि के मध्य में यह दूसरा कोट स्थित है।

यह दूसरा कोट धूलिसाल कोट के समान ही गोल आकृति वाला है। तथापि वर्णों के क्रम में किंचित् मात्र भिन्नता है। ''यह कोट कहीं-कहीं मूँगा और पद्मराग-मणियों की किरणों से अधिक लाल है; कहीं नवीन मेघ के समान काला, कहीं घास के समान हरा; कही इन्द्रगोप के समान लाल; कहीं बिजली के समान पीला और अनेक प्रकार के रत्नों की किरणों से इन्द्रधनुष की शोभा को ही उत्पन्न करता है।''[1]

इस कोट पर जड़ित मोतियों के समूह, तारों के समूह के समान दिखलाई देते हैं तथा युगल रूप में हाथी, घोड़े और व्याघ्रों के आकार; तोते, हंस और मयूरों के युगल तथा मनुष्य पुरुष-स्त्रियों के युगलों के चित्र चित्रित हैं। रत्नों की किरणों से आकाश रूपी आँगन घिरा हुआ हो - ऐसा दिखलाई देता है।

यह कोट भी धूलिसाल कोट के समान 4 गोपुरद्वारों से युक्त है। गोपुर-द्वार भी 100-100 तोरण, नव निधि, अष्ट मंगल द्रव्य, द्वारपाल और पुतलियों सहित धूपघटों से युक्त हैं। ''ये चारों गोपुरद्वार रजतमय हैं तथा यक्ष (व्यंतर) जाति के देव द्वारपाल हैं।''[2]

इस कोट का आकार मानुषोत्तर पर्वत के समान हैं अर्थात् नीचे अधिक विस्तार वाला है और ऊपर जाते-जाते विस्तार कम होता जाता है तथा पर्वत के अग्रभाग पर कूट बने हुए हैं; उसीप्रकार यह दूसरा कोट भी नीचे से अधिक विस्तार वाला है और ऊपर जाते-जाते विस्तार कम होता जाता है तथा कोट के अग्रभाग पर कूट के समान कंगूरे बने हुए हैं।

1. आदिपुराण - 22/132-134
2. तिलोय पण्णत्ति - 4/802

ये कंगूरे बंदर के सिर के आकार वाले होते हैं तथा 1 हाथ 1 वितस्ति (विलस्ति) चौड़े और 1 वेमा ऊँचे होते हैं।

इस कोट का विस्तार (चौड़ाई) पहले धूलिसाल कोट से दुगुना है अर्थात् 666.66 धनुष प्रमाण विस्तार वाला है।

यह कोट, मार्ग व अट्टालिकाओं से रमणीय, चंचल पताकाओं के समूह से अत्यन्त रमणीय दिखलाई देता है।

चौथी उपवन भूमि

दूसरे कोट के बाद और तीसरी वेदी के पहले अथवा दूसरे कोट और तीसरी वेदी के मध्य में यह चौथी उपवन भूमि स्थित है।

यह चौथी भूमि अन्य भूमियों से कुछ भिन्न है। जैसे अन्य भूमियों की चारों दिशाओं में समान रचना होती है, किसी भी प्रकार का अंतर नहीं होता है; परन्तु इस चौथी भूमि में कुछ अन्तर है। इस उपवन भूमि के उपवन चारों दिशाओं में अलग-अलग प्रकार के होते हैं। जैसे -

1. पूर्व दिशा की भूमि में **अशोक वन** है।
2. दक्षिण दिशा की भूमि में **सप्तपर्ण** वन है।
3. पश्चिम दिशा की भूमि में **चम्पक** वन है।
4. उत्तर दिशा की भूमि में **आम्र** वन है।

इसप्रकार इन भिन्न-भिन्न उपवनों के कारण यह भूमि अन्य भूमियों से कुछ भिन्न है। **(चौथी उपवन भूमि का चित्र पृष्ठ 189 पर देखें।)**

प्रश्न - इन वनों के नाम अशोक, सप्तपर्ण इत्यादि ही क्यों हैं, अन्य नाम क्यों नहीं हैं?

उत्तर - इन चारों वनों के नाम अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र वन इसलिए हैं; क्योंकि ये सार्थक नाम हैं। जिस भूमि पर जो वृक्ष है, उस भूमि को उसी का नाम दिया गया है; अतः ये भूमियाँ अपने-अपने नामों को सार्थक करने वाली हैं।

1. अशोकवन में अशोक वृक्ष होने से अशोक वन कहा जाता है। जो शोक को नष्ट करे उसे अशोक कहते हैं। ये वृक्ष भी मनुष्यादि के शोक को नष्ट करने वाले होते हैं; अतः अशोक वृक्ष कहलाते हैं। इसप्रकार अशोक वन में होने वाले अशोक वृक्ष भी सार्थक नाम वाले हैं। ये अशोक वृक्ष लाल वर्ण के फूलों से युक्त होते हैं।

2. सप्तपर्ण वन में सप्तपर्ण वृक्ष होने से इस वन को सप्तपर्ण वन कहा जाता है। जिन वृक्षों के केवल सात पत्र होते हैं, उन्हें सप्तपर्ण कहते हैं। इन वृक्षों में भी केवल सात ही पत्र होते हैं; अतः ये सप्तपर्ण वृक्ष कहलाते हैं। इसप्रकार सप्तपर्ण वन में होने वाले सप्तपर्ण वृक्ष भी सार्थक नाम वाले हैं। ''ये सप्तपर्ण सात परम स्थानों के प्रतीक हैं।''[1]

प्रश्न - सात परम स्थान कौन-कौन से हैं?

उत्तर - सात परम स्थानों के नाम इसप्रकार हैं -

सज्जातिः सद्ग्रहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हंत्यं परं निर्वाणमित्यपि।।

1. सज्जातित्व, 2. सद्गृहित्व (श्रावक के व्रत), 3. पारिव्राज्य (मुनिराजों के व्रत), 4. सुरेन्द्रता(सुरेन्द्र पद), 5. साम्राज्य (राज्य पद), 6. परमार्हन्त्य (अरिहंत पद), 7. परिनिर्वाण (सिद्ध पद)।

● सम्यग्दृष्टि जीव क्रम-क्रम से इन 7 परम स्थानों को प्राप्त करते हैं।

3.चम्पक वन में चम्पक वृक्ष होने से चम्पक वन कहा जाता है।

4. आम्रवन में आम्र वृक्ष होने से आम्रवन कहा जाता है।

इसप्रकार उपवन भूमि की चारों दिशाओं में स्थित वनों का अलग-अलग स्वरूप देखा।.

अब चारों वनों का सामान्य स्वरूप क्या है? यह भी देखते हैं।

---
1. आदिपुराण - 22/181

सभी वृक्षों पर फल और फूल खिले हुए हैं। जो छहों ऋतुओं में होते हैं। ये संतोष की हंसी के समान दिखाई देते हैं। जिनेन्द्र भगवान को अर्घ्य समर्पण करने के लिए मानों अपने हाथों में अर्घ्य लेकर ही खड़े हों – ऐसे प्रतीत होते हैं।

उनके फूल सुगन्ध फैलाने वाले होते हैं; जिसके कारण गुंजार करते हुए भ्रमर उन पर आकर बैठ जाते हैं। जिनकी गुंजार भगवान के गुणगान ही कर रही हो तथा वे मधुर शब्द करते हुए भ्रमर कामदेव को भी तर्जित कर रहे हों – ऐसे दिखलाई देते हैं।

जो फूल वृक्षों से टूट कर नीचे गिर गए हैं, वे स्वर्ण की धूल के समान दिखलाई देते हैं और उस स्वर्ण की धूल से वृक्ष का तल भाग ढक जाता है। वृक्षों की शाखाएँ पवन के द्वारा हिल रही हैं, वे शाखाएँ वृक्षों के हाथों के समान ही दिखलाई देती हैं। जब वे शाखाएँ पवन के द्वारा हिलती हैं तब मानों वे हर्ष से अपने हाथ हिला-हिला कर बार-बार नृत्य ही कर रही हों।

ये वृक्ष उत्तम छाया को देने वाले, अनेक फूलों से युक्त, तुंग ऊँचे, मनुष्यों को संतोष और सुख देने वाले तथा शीतल हैं; जैसे उत्तम राजा भी उत्तम छाया अर्थात् आश्रय देने वाले, अनेक फूलों से युक्त अर्थात् उदार हृदयवाले, मनुष्यों को सुख और संतोष के कारण तथा शान्त होते हैं। इस प्रकार ये वृक्ष उत्तम राजा के समान होते हैं।

इन वनों (आम्रवनों) में कोयलों के मधुर शब्द होते हैं। जो जिनेन्द्र भगवान की सेवा के लिए इन्द्र ही बुला रहे हों, ऐसे प्रतीत होते हैं।

इन वृक्षों के प्रकाश के कारण यहाँ दिन-रात का भेद ही नहीं रहता है तथा वृक्ष इतने घने हैं कि सूर्य की किरण भी उन वृक्षों में प्रवेश करने में समर्थ नहीं हैं तथा इन वनों की भूमि हरी घास से युक्त व इन्द्रगोप

नामक कीड़ों से व्याप्त होती है।

''वनों में कहीं कमल, कहीं तालाब, कहीं कृत्रिम पर्वत, कहीं मण्डप, कहीं अजायबघर (जहाँ सुन्दर वस्तुएँ रखी जाती हैं), कहीं चित्रशाला और कहीं एक खण्ड वाले, कहीं दो खण्ड वाले, कहीं तीन खण्ड वाले रत्नों से निर्मित महलों की पंक्तियाँ सुशोभित होती हैं और कहीं उत्तम बालू के किनारों से सुशोभित नदियाँ-वापिकाएँ बह रही हैं।''[1]

इन महलों की ऊँचाई तीर्थंकर देव के शरीर से 12 गुणा होती है अर्थात् महलों की ऊँचाई 6000 धनुष (3 कोस) प्रमाण है।

आदिपुराण में आचार्य जिनसेन स्वामी ने इन वनों का स्त्री और स्त्रियों के उत्तरीय वस्त्र की उपमा सहित सांगरूपक चित्रण किया है –

1. ''वे वृक्ष उत्तम स्त्रियों के समान ही मनोहर हैं, मेदुर/अतिशय चिकने हैं, उन्निद-कुसुम अर्थात् फूले हुए फूलों से सहित हैं, जैसे स्त्री ऋतुधर्म से सहित होती हैं। सुश्री अर्थात् शोभा से युक्त हैं। ये कामद अर्थात् इच्छित पदार्थ को देने वाले हैं।

2. जिसप्रकार स्त्रियों का उत्तरीय वस्त्र आतप की बाधा को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार वनों ने भी आतप की बाधा को नष्ट कर दिया है।

3. जिसप्रकार उत्तरीय वस्त्र उत्तम पल्लव अर्थात् आँचल से सुशोभित होता है; उसीप्रकार वे वन भी उत्तम पल्लव अर्थात नवीन कोमल पत्तों से सुशोभित होते हैं।

4. जिसप्रकार उत्तरीय वस्त्र, पयोधर अर्थात् स्तनों का स्पर्श करता है; उसीप्रकार वे वन भी ऊँचे होने के कारण पयोधर अर्थात् मेघों का स्पर्श करते हैं।''[2]

1. आदिपुराण – 22/175-177
2. आदिपुराण – 22/178,179

इन वनों के मध्य भाग में एक-एक चैत्यवृक्ष होता है। चैत्य अर्थात् जिन प्रतिमा, इन वृक्षों पर चैत्य स्थित होते हैं; अतः इन्हें चैत्य वृक्ष कहते हैं। प्रत्येक वन में एक-एक चैत्यवृक्ष स्थित होता है। इसप्रकार कुल चार चैत्यवृक्ष होते हैं। **(चैत्य वृक्ष का चित्र पृष्ठ 190 पर देखें।)**

अशोक वन के चैत्यवृक्ष का नाम अशोक चैत्यवृक्ष है।

सप्तपर्ण वन के चैत्यवृक्ष का नाम सप्तपर्ण चैत्यवृक्ष है।

चम्पक वन के चैत्यवृक्ष का नाम चम्पक चैत्यवृक्ष है।

आम्र वन के चैत्यवृक्ष का नाम आम्र चैत्यवृक्ष है।

इन चैत्यवृक्षों की रचना मानस्तम्भ के समान ही होती है, मात्र मानस्तम्भ के स्थान पर वृक्ष ही स्थित होता है।

प्रथम स्वर्णमय 3 पीठ अथवा 3 कटनीदार पीठिका स्थित होती हैं, जो 3 कोटों से घिरी हुई हैं तथा वे कोट भी 4-4 गोपुर-द्वारों से युक्त होते हैं। 1 कोट के 4 गोपुरद्वार हैं; इसप्रकार 3 कोटों के कुल 12 गोपुर-द्वार होते हैं।

इन पीठों के ऊपर चैत्यवृक्ष स्थित होते हैं। ये नीलमणिमय पत्तों से व्याप्त, पद्मरागमणि से निर्मित फूलों के गुच्छों से आच्छादित, स्वर्ण से निर्मित शाखाएँ एवं नीचे का देदीप्यमान भाग वज्र (हीरे) से निर्मित होता है।

इन चैत्य वृक्षों पर अष्ट प्रातिहार्यों से युक्त 4 जिन प्रतिमाएँ वृक्षों के मूल एवं उपरिम भाग में स्थित होती हैं। इस संबंध में तिलोय पण्णत्तिकार तो मौन है। तिलोय पण्णत्तिकार तो पीठों पर 4-4 मानस्तम्भों की रचना बतलाते हैं।

''ये मानस्तम्भ कमल, उत्पल और कुमुदवन की सुगन्ध से युक्त और देव एवं मनुष्यों के युगलों से निकली हुई केशर के पंक से पीत वर्ण

वाली उत्तम वापिकाओं से सहित होते हैं।''[1]

हरिवंशपुराण, आदिपुराण, रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका और तत्त्वार्थसार में तो वृक्ष के मूल भाग में ही जिनप्रतिमाएँ स्थित होने का उल्लेख है।

प्रश्न – वृक्षों पर अरिहंत परमेष्ठी की प्रतिमाएँ होती हैं या सिद्ध परमेष्ठी की प्रतिमाएँ होती हैं?

उत्तर – आदिपुराण, तत्त्वार्थसार और रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका में स्पष्ट रूप से लिखा है कि वे प्रतिमाएँ अरिहंत परमेष्ठी की होती हैं और तिलोय पण्णत्ति में लिखा है कि ''वे प्रतिमाएँ अष्ट प्रातिहार्यों सहित होती हैं।''[2]

जो प्रतिमाएँ अष्ट प्रतिहार्यों सहित होती हैं, वे अरिहंत प्रतिमा होती हैं और जो प्रतिमाएँ अष्ट प्रातिहार्यों से रहित होती हैं, वे सिद्ध प्रतिमाएँ होती हैं अर्थात् तिलोय पण्णत्ति में भी अरिहंत प्रतिमा को ही स्वीकार किया गया है, परन्तु हरिवंशपुराण में सिद्ध प्रतिमाओं का स्पष्ट उल्लेख है कि ''इन चैत्यवृक्षों पर सिद्ध प्रतिमाएँ विराजमान होती हैं।''[3]

देवगण इन प्रतिमाओं का क्षीरसागर के जल से अभिषेक करते हैं और गंध, पुष्प, धूप, दीप, फल और अक्षत द्रव्यों से पूजन भी करते हैं।

न चैत्य वृक्षों की ऊँचाई तीर्थंकरों के शरीर से बारह गुणा होती है अर्थात् चैत्यवृक्षों की ऊँचाई 6000 धनुष (3 कोस) प्रमाण है।

तथा वनों में अनेक प्रकार की उत्तम वापिकाएँ भी स्थित होती हैं। इन वापिकाओं का आकार त्रिकोण, चतुर्कोण और गोलाकार होता है।

ये वापिकाएँ भी मानस्तम्भ की वापिकाओं के समान ही निर्मित

1. तिलोय पण्णत्ति - 4/780
2. तिलोय पण्णत्ति - 4/807
3. हरिवंशपुराण - 57/29

होती हैं। स्वच्छ पीले जल से परिपूर्ण हैं; क्योंकि ''देवांगनाओं के स्तनों पर लगी हुई केसर के धुल जाने से वापिकाएँ पीली-पीली हो जाती हैं।''[1] ''कमल, कुमुद और उत्पलों की सुगंध से युक्त हैं।''[2] ''वापिकाओं के चारों तट रत्नों से निर्मित, स्फटिक-मणिमय भूमि, स्वर्णमय सीढ़ियाँ, ऊँचे-ऊँचे बरांडों और तोरणों से युक्त एवं गहरी तथा 2 कोस विस्तृत होती हैं।''[3]

''हरिवंशपुराण में प्रत्येक वन की छह-छह वापिकाओं का नामोल्लेख है -

पूर्व दिशा के अशोक वन की 6 वापिकाएँ -

1. नंदा, 2. नंदोतरा, 3. आनंदा, 4. नंदवती, 5. अभिनन्दिनी, 6. नंद घोषा।

दक्षिण दिशा के वन की 6 वापिकाएँ -

1. विजया, 2. अभिजया, 3. जेत्री, 4. वैजयंती, 5. अपराजिता, 6. ज्योतरा।

पश्चिम दिशा के वन की 6 वापिकाएँ -

1. कुमुदा, 2. नलिनी, 3. पद्मा, 4. पुष्करा, 5. विश्वोत्पला, 6. कमला।

उत्तर दिशा के वन की 6 वापिकाएँ -

1. प्रभासा, 2. भास्वती, 3. भासा, 4. सप्रभा, 5. भानुमालिनी, 6. स्वयंप्रभा।

इसप्रकार पूर्वादि दिशाओं के अशोकादि वनों की 6-6 वापिकाएँ होती हैं।''[4]

तथा प्रत्येक दिशा की वापिकाएँ भिन्न-भिन्न फल देने वाली होती हैं। यथा - ''पूर्व दिशा में अशोक वन की वापिकाएँ 'उदय' नामक

1. आदिपुराण - 22/174
2. तिलोय पण्णति - 4/810
3. हरिवंशपुराण - 57/30,31
4. हरिवंशपुराण - 57/32-35

फल देती हैं। दक्षिण दिशा में सप्तपर्ण वन की वापिकाएँ 'विजय' नामक फल देती हैं। पश्चिम दिशा में चम्पक वन की वापिकाएँ 'प्रीति' नामक फल देती हैं। उत्तर दिशा में आम्र वन की वापिकाएँ 'ख्याति' नामक फल देती हैं।''[1]

''इन वापिकाओं में स्नान करने वाले जीवों को 1 भव दिखलाई देता है और मात्र निरीक्षण करने वालों को 3 अतीत के, 1 वर्तमान का और 3 भविष्य के इसप्रकार 7 भव दिखलाई देते हैं।''[2]

निरीक्षण करने वाले जीवों को 7 भवों में कौन-कौन सी पर्याय मिली हैं। जैसे मनुष्य, देवादि - इतना मात्र दिखलाई देता है तथा स्नान करने वाले जीवों को अपने इस एक वर्तमान भव की सभी दशाएँ दिखलाई देती हैं।

पण्डित मेधावीजी भी इसी बात का पोषण करते हुए धर्म संग्रह श्रावकाचार में इसप्रकार लिखते हैं कि -

सिक्तास्तद्वन वाणीनां जलैः पश्यन्ति जन्तवः।
भवमेकं गतागामिभवान् सप्त तदीक्षणात्।।64।।

अर्थ - चौथी उपवन भूमि की वापिकाओं के जल में जिन लोगों का सिंचन किया जाए, उन्हें सम्पूर्ण एक भव का वृत्तांत मालूम हो जाता है और जिन लोगों को वापिकाओं को साक्षात् देखने का मौका मिलता है, उन्हें अपने अतीत व आगामी सात भव ज्ञात हो जाते हैं।

इसप्रकार उपवन भूमि में भव दिखलाने वाली अनेक वापिकाएँ स्थित हैं।

महावीथी से जब इन उपवनों की भूमि में प्रवेश करते हैं, तब प्रवेश करते समय दोनों पार्श्व भागों में एक-एक नाट्यशाला स्थित होती है

1. हरिवंशपुराण - 57/36
2. तिलोय पण्णत्ति - 4/808

अर्थात् एक दिशा के वन के चारों कौनों में एक-एक नाट्यशाला स्थित होती है। इसप्रकार एक वन में कुल चार नाट्यशालाएँ होती हैं और चारों दिशाओं के वनों में कुल 16 नाट्यशालाएँ स्थित होती हैं।

इनकी दीवाल एवं भूमि, स्फटिक मणिमय, स्तम्भ स्वर्णमय तथा 3 खण्डों वाली होती हैं। 1 नाट्यशाला में 32-32 रंगमंच तथा 1 रंगमंच पर 32-32 देवांगनाएँ नृत्य करती हैं।

''आदि के (दूसरे कोट के समीप के) कौनों पर स्थित 8 नाट्यशालाओं में भवनवासी देव कन्याएँ नृत्य करती हैं और आगे के (तीसरी वेदी के समीप के) कौनों पर स्थित 8 नाट्यशालाओं में कल्पवासी देव कन्याएँ नृत्य करती हैं।''[1]

परन्तु आदिपुराण व हरिवंशपुराण में नाट्यशालाओं का उल्लेख ही नहीं है।

प्रश्न – महावीथी में से जब उपवन भूमि में प्रवेश करते हैं, तब उस प्रवेश द्वार अथवा मार्ग का विस्तार कितना है?

उत्तर – दूसरा कोट 666.66 धनुष प्रमाण विस्तृत है ''उसके आगे 1.50 कोस (3000 धनुष) प्रमाण विस्तृत नाट्यशाला है''[2], उसके आगे द्वार अथवा मार्ग है उसके आगे 1.50 कोस (3000 धनुष) प्रमाण विस्तृत नाट्यशाला है। दूसरे कोट और दोनों नाट्यशालाओं के विस्तार को जोड़कर 1 योजन में से घटाने पर उन मार्गों/द्वारों का विस्तार निकल आएगा (666.66+1.50+1.50)-(1 योजन) 6666.66 धनुष - 8000 धनुष = 1333.34 धनुष मार्ग/द्वार); अतः मार्ग/द्वारों का विस्तार (चौड़ाई) 1333.34 धनुष प्रमाण है।

1. तिलोय पण्णत्ति – 4/815,816 2. हरिवंशपुराण – 57/38

अंत में आचार्य जिनसेन स्वामी आदिपुराण में उपवन भूमि के वृक्षों को पुनः राजा की उपमा देकर सांगरूपक वर्णन करते हैं।

''जिसप्रकार राजा अनेक प्रकार के फूलों से अलंकृत होते हैं; उसी प्रकार वे वृक्ष भी अनेक फूलों से अलंकृत होते हैं।

जिसप्रकार राजा अपने पाद अर्थात् पैरों से समस्त पृथ्वी को आक्रांत किया करते हैं; उसीप्रकार वृक्ष भी अपने पाद अर्थात् जड़ों से समस्त पृथ्वी को आक्रांत किया करते हैं।

जिसप्रकार राजा पत्र अर्थात् सवारियों से भरपूर होते हैं; उसीप्रकार वृक्ष भी पत्र अर्थात् पत्तों से भरपूर होते हैं।

जिसप्रकार राजा अपने अलंकारों से अलंकृत होने से उनके हृदय की प्रसन्नता दिखलाई देती है; उसीप्रकार वृक्ष भी अपने फूलों से अलंकृत होने से उनके हृदय की प्रसन्नता दिखलाई देती है।''[1]

इसप्रकार यह चौथी उपवन भूमि अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्रवक्षों से; चैत्यवृक्षों से, वापिका और नाट्यशालाओं से युक्त 7332 धनुष प्रमाण विस्तृत एवं भ्रमणार्थिओं के लिए आनन्दोत्पादक है। इसप्रकार दूसरा कोट और चौथी उपवन भूमि – दोनों (666.66+7332 = 7998.66 धनुष) 1 योजन (8000 धनुष) विस्तृत क्षेत्र में स्थित हैं।

तीसरी वेदी (वनवेदी)

चौथी उपवन भूमि के बाद और पाँचवीं ध्वज भूमि के पहले अथवा तीसरी और चौथी भूमि के मध्य में यह तीसरी वेदी स्थित है।

इस तीसरी वेदी को वनवेदी भी कहते हैं; क्योंकि यह वेदी उपवन (वन) भूमि से स्पर्शित है तथा यह वेदी वन (उपवन भूमि) की करधनी के समान ही सुशोभित होती है।

1. आदिपुराण – 22/202,203

''यह स्वर्णमय वनवेदी रत्नों से जड़ित है। यह वनवेदी उदग्र (ऊँची), सचर्या (रक्षा से सहित), समयावन (वन के समीप भाग का आश्रय) होने से भव्य जीवों की बुद्धि के समान दिखलाई देती है। जैसे बुद्धि उदग्र (उत्कृष्ट) सचर्या (उत्तम चरित्र से युक्त), समायावनं (समय+अवनं = आगम आश्रय से प्रवृत्त) (समया+वनं = वन के समीप भाग का आश्रय करके प्रवृत्त) होती है।''[1]

कहीं ऊँची हो, कहीं नीची हो, ऐसी नहीं है; सब ओर से समान है। यह वेदी उत्तम रत्नमय ध्वजा, तोरण और घंटों के समूह से युक्त है और धूलिसाल कोट के समान 4 गोपुर द्वारों से युक्त है।

गोपुरद्वार भी 100-100 तोरण, नव निधि, अष्ट मंगल द्रव्य, द्वारपाल और पुतलियों सहित धूपघटों से युक्त हैं। ये चारों गोपुरद्वार रजतमय हैं तथा यहाँ यक्ष (व्यंतर) जातीय देव, द्वारपाल हैं।

इसप्रकार चाँदीमय गोपुरद्वारों से युक्त यह स्वर्णमय तीसरी वेदी 666.66 धनुष प्रमाण विस्तृत है।

पाँचवीं ध्वज भूमि

तीसरी वेदी के बाद और तीसरे कोट के पहले अथवा तीसरी वेदी और तीसरे कोट के मध्य में यह पाँचवीं ध्वज भूमि स्थित है।

पाँचवीं भूमि में अनेक प्रकार के अनेक ध्वज स्थित हैं; अतः इसे ध्वज भूमि कहते हैं। ''यह भूमि रत्नों और नीलमणि से निर्मित है।''[2] इस भूमि पर अनेक मणिमय, अनेक पीठिकाएँ हैं, जो 3 धनुष विस्तृत और चित्र-विचित्र हैं। ''इन पीठिकाओं के ऊपर तीर्थंकर देव के परमौदारिक शरीर से 12 गुणा ऊँचे स्वर्णमय स्तम्भ होते हैं''[1] अर्थात् स्वर्णमय स्तम्भों की ऊँचाई 6000 धनुष (3 कोस) प्रमाण है।

1. आदिपुराण - 22/207 2. आदिपुराण - 22/130

''ये स्तम्भ 3 से भाजित 64 अंगुल अर्थात् 21.333 अंगुल मोटे हैं।''[2] ''आदिपुराण में 28 अंगुल मोटे स्तम्भ कहे हैं।''[3] और ''हरिवंशपुराण में आधा योजन लम्बे रत्नमयी बॉस कहे हैं। इन स्तम्भों के अग्रभाग पर पताकाएँ फहराती हैं, जो छोटी सघन घण्टियों, चित्र पटों से युक्त होती हैं।''[4] **(पाँचवीं ध्वज भूमि का चित्र पृष्ठ 191 पर देखें।)**

एक ध्वज से दूसरी ध्वज 25 धनुष के अन्तराल में स्थित होती है तथा ध्वजाएँ 10 प्रकार की रंग-बिरंगी होती हैं, जो इसप्रकार हैं -

1. पहली ध्वजा **माला** के चिह्न से चिह्नित है। जो भव्य जीवों के सरल परिणामों को ही दिखलाती है।

2. दूसरी ध्वजा **वस्त्र** के चिह्न से चिह्नित है। महीन (पतला) और सफेद वस्त्रों की बनी हुई है, जो आकाश-रूपी समुद्र की ऊँची लहरों के समान दिखलाई देती है।

3. तीसरी ध्वजा **मयूर** के चिह्न से चिह्नित है, जो लीला पूर्वक अपनी पूछ फैलाए हुए है। साँप की काँचली को ही निगल लिया हो, ऐसे सुशोभित होती है।

4. चौथी ध्वजा **कमल** के चिह्न से चिह्नित है। कमल 1000 दलों वाले एक आकाश-रूपी सरोवर में खिले हुए हैं, ऐसे सुशोभित होते हैं और रत्नमय पृथ्वी पर उन कमलों के प्रतिबिम्ब बने हुए दिखलाई देते हैं।

5. पाँचवीं ध्वजा **हंस** के चिह्न से चिह्नित है। जो चोंच से वस्त्रों को ग्रसित कर रहे हैं। अपनी द्रव्य शुक्ल लेश्या का ही प्रसार करती हुई दिखलाई देती है।

1. तिलोय पण्णत्ति - 4/821 2. तिलोय पण्णत्ति - 4/822
3. आदिपुराण - 22/213, रत्न श्रा. व., पृ.-415, तत्त्वार्थसार, पृ.-71 4. हरिवंशपुरा - 57/42

6. छठवीं ध्वजा **गरुड़** के चिह्न से चिह्नित है। जो मानों आकाश का ही उल्लंघन करना चाहते हैं। नीलमणिमय पृथ्वी पर जब इनका प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब नागेन्द्रों को खींचने के लिए पाताल लोक में ही प्रवेश कर रहे हो – ऐसे दिखलाई देते है।

7. सातवीं ध्वजा **सिंह** के चिह्न से चिह्नित है। वे सिंह ऐसे सुशोभित होते हैं कि मानों देवों के हाथियों को जीतने के प्रयत्न में ही छलाँग भर रहे हों, उन सिंह के मुख पर मोती ही लटक रहे हैं, जो हाथी के गडस्थल के समान ही दिखलाई देते है।

8. आठवीं ध्वजा **बैलों** के चिह्न से चिह्नित है। जिनके सींगों के अग्रभाग पर वस्त्र लटक रहा है और शत्रुओं को जीतने वाली विजय पताकाओं के समान ही दिखलाई देती है।

9. नौवी ध्वजा **हाथी** के चिह्न से चिह्नित है। जो ऊँची उड़ी हुई सुन्दर पताकाओं को धारण किए हुए हैं तथा बड़े-बड़े पर्वतों के समान ही दिखलाई देती हैं।

10. दशवीं ध्वजा **चक्र** के चिह्न से चिह्नित है। जो 1000 आरियों वाले हैं, इनकी किरणें ऊपर की ओर उठी हुई एवं सूर्य के साथ स्पर्धा करने के लिए तैयार हो – ऐसी दिखलाई देती है।''[1]

इसप्रकार मालादिक 10 प्रकार की ध्वजाओं से यह ध्वज भूमि अत्यधिक सुशोभित होती है। **(ध्वज का चित्र पृष्ठ 192 पर देखें।)**

''एक दिशा की पृथ्वी में एक प्रकार की ध्वजा 108-108 की संख्या में होती है। इसीप्रकार प्रत्येक ध्वजा 108-108 की संख्या में होती हैं; अतः एक दिशा की भूमि में कुल 1080 ध्वजाएँ तथा चारों दिशाओं में कुल 4320 (1080ह्न4) ध्वजाएँ होती हैं।''[2]

1. आदिपुराण – 22/222-235 (तिलोय पण्णत्ति में माला और वस्त्र के स्थान पर सूर्य और चन्द्रमा को लिया है।) 2. तिलोय पण्णत्ति – 4/819, आ. पु. 22/238

''एक महाध्वजा अपने साथ 108 क्षुद्र ध्वजाओं को लिये हुए होती है; अतः एक दिशा में कुल 1,16,640 (1080ह्न108) क्षुद्र ध्वजाएँ होती हैं तथा चारों दिशाओं में कुल 4,66,560 (1,16,640ह्न4) क्षुद्र ध्वजाएँ होती हैं।'[1]

इसप्रकार चारों दिशाओं में सम्पूर्ण ध्वजाएँ (महाध्वजा+क्षुद्र ध्वजा) 4,320+4,66,560) = 4,70,880 होती हैं। इस भूमि का विस्तार लता भूमि के समान ही है अर्थात् 7,332 धनुष प्रमाण है। इसप्रकार तीसरी वेदी और पाँचवीं ध्वज भूमि दोनों (666.66+7332 = 7998.66 धनुष) 1 योजन (8000 धनुष) विस्तृत क्षेत्र में स्थित हैं।

इसीप्रकार जैनध्वजा भी आयताकार तथा सफेद, हरा, लाल, पीला और काला/नीला – इन पाँच रंगों वाली होती है।

यहाँ **प्रश्न** हो सकता है कि जैन ध्वजा में यही पाँच वर्ण क्यों होते हैं?

समाधान – वर्ण, पुद्गल द्रव्य का गुण है और आगम में वर्ण गुण की सफेद, नीला[2], लाल, पीला और काला – ये पर्याय कही हैं; अतः धूलिसाल कोट के समान ही जैन ध्वज में यही पाँच वर्ण होते हैं।

आदिपुराण में इसी भूमि के वर्णन के मध्य में अनेक रचनाओं की ऊँचाई का भी वर्णन है। यथा – 1. सिद्धार्थ वृक्ष, 2. चैत्य वृक्ष, 3. कोट, 4. वनवेदिका 5. स्तूप, 6. तोरण सहित मानस्तम्भ, 7. ध्वजाएँ, 8. वन, 9. प्रासाद, 10. पर्वत।

इन सभी की ऊँचाई तीर्थंकर के शरीर से 12 गुणा है अर्थात् 6000 धनुष प्रमाण है।

इनमें से सिद्धार्थ वृक्ष, चैत्यवृक्ष, स्तूप, तोरण सहित मानस्तम्भ, ध्वजाएँ, प्रासाद और वन – इन सबकी ऊँचाई तो 6000 धनुष (3

1. तिलोय पण्णत्ति – 4/819 (परन्तु हरिवंशपुराण (57/42) में एक दिशा में कुल 11,664,000 ध्वजाएँ तथा चारों दिशाओं में कुल 4,68,36,000 ध्वजाएँ कहीं हैं)
2. ध्वज में नीले वर्ण के स्थान पर हरा वर्ण है।

कोस) प्रमाण है; परन्तु कोट की ऊँचाई के संबंध में तिलोय पण्णत्ति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि –

धुलिसालाण पुढं णियजिणदेहोदयप्पमाणेण।
चउगुणिदेणं उदओ सव्वेसुं समवसरणेसुं।।746।।

यह कोट तीर्थंकर देव के परमौदारिक दिव्य शरीर की ऊँचाई से चौगुनी ऊँचाई वाला है अर्थात् धूलिसाल कोट की ऊँचाई 2000 धनुष (1 कोस) प्रमाण है।

प्रश्न – तब फिर किस कथन को सत्य मानें?

उत्तर – सामान्य कथन से विशेष कथन बलवान होता है; कहा भी है –

सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्।

आदिपुराण में सामान्य कथन किया गया है; क्योंकि कोट की ऊँचाई का वर्णन अन्य 10 रचनाओं के साथ ही किया गया है; अतः सामान्य कथन है; परन्तु तिलोय पण्णत्ति में विशेष कथन किया गया है; क्योंकि इसमें कोटों की ऊँचाई का वर्णन पृथक् गाथा में किया गया है।

पर्वतों की ऊँचाई भी तीर्थंकर के शरीर से 12 गुणा अर्थात् 6000 धनुष (3 कोस) होती है; परन्तु आदिपुराण में इसी की अगली गाथा में कहा है कि –

भवेयुर्गिरयो रुन्द्राः स्वोत्सेधादृष्टयंगुण।।217।।

अर्थात् पर्वत अपनी ऊँचाई से 8 गुणे विस्तार वाले हैं अर्थात् 6000 ह्न 8 = 48000 धनुष प्रमाण (24 कोस/6 योजन) विस्तार वाले हैं तथा किसी भी भूमि का विस्तार 1 योजन से अधिक नहीं है; तब 6 योजन विस्तार वाले पर्वत 1 योजन विस्तार वाली भूमि में कैसे स्थित हो सकते हैं? यह विचारणीय है।

तीसरा कोट

पाँचवीं भूमि के बाद और छठवीं भूमि के पहले अथवा पाँचवीं और छठवीं भूमि के मध्य में यह तीसरा कोट स्थित है।

''इस चाँदीमय तीसरे कोट के गोपुर-द्वार भी चाँदीमय हैं।''[1] गोपुर-द्वार भी 100-100 तोरण, नव निधि, अष्ट मंगल द्रव्य, द्वारपाल और पुतलियों सहित धूपघटों से युक्त हैं। इन गोपुरद्वारों के द्वारपाल, भवनवासी देव हैं। इन द्वारों की 5 खण्डों वाली नाट्यशालाओं में भवनवासी देवों की कन्याएँ नृत्य करती हैं।

''तोरणों के दोनों पसवाड़ों में पीठों के ऊपर 2-2 मंगल कलश स्थित हैं। ये मंगल कलश, शंख के समान सुन्दर, कंठ में पड़ी मालाओं के समान सुशोभित, मुखों पर कमलों को धारण किए और जल से भरे हुए हैं।''[2]

''इस कोट का विस्तार धूलिसाल कोट से दुगुना तथा दूसरे कोट के समान है, अर्थात् 666.66 धनुष प्रमाण विस्तृत है।''[3] इसप्रकार यह चाँदीमय तीसरा कोट चाँदीमय गोपुर-द्वारों से अत्यधिक मनोहर दिखलाई देता है।

छठवीं कल्पभूमि

तीसरे कोट के बाद और चौथी वेदी के पहले अथवा तीसरे कोट और चौथी वेदी के मध्य में यह सातवीं कल्पभूमि स्थित है।

इस भूमि में 10 प्रकार के कल्पवृक्ष स्थित होते हैं; अतः इस भूमि को कल्पभूमि कहते हैं। 10 प्रकार के कल्पवृक्ष इसप्रकार हैं –

1. तिलोय पण्णत्ति – 4/827, आ.पु. 22/239,240 2. हरिवंशपुराण – 57/48-52
3. आदिपुराण – 22/239, हरिवंशपुराण 57-49 (तिलोय पण्णत्ति के अनुसार तथा क्रम के अनुसार यह 'तीसरा कोट' है; परन्तु हरिवंशपुराण और आदिपुराण में इस कोट को 'दूसरा कोट' कहा है।)

1. पानांग (मद्यांग) 2. तूर्यांग (वादित्रांग), 3. भूषणांग, 4. वस्त्रांग, 5. भोजनांग, 6. आलयांग (गृहाण), 7. दीपांग, 8. भाजनांग, 9. मालांग, 10. तेजांग (ज्योतिरंग)।

(छठवीं कल्पभूमि का चित्र पृष्ठ 193 पर देखें।)

प्रत्येक कल्पवृक्ष अपने नामानुसार ही फल प्रदान करते हैं, जैसे –

1. अमृत के समान मीठे–मशेय, सीधु, अरिष्ट और आसवादि पेय पदार्थ।

2. दुंदुभि, मृदंग, झल्लरी, शंख, भेरी, चंग आदि वाद्य यंत्र।

3. नूपुर, बाजूबंद, रुचिक, अंगद, करधनी, हार, मुकुट आदि आभूषण।

4. रेशमी वस्त्र, दुपट्टे, धोती आदि अनेक कोमल, चिकने और महामूल्य वस्त्र।

5. स्वाद देने, शरीर को पुष्ट करने वाले, छहों रसों से सहित अशन पान आदि आहार पदार्थ।

6. ऊँचे–ऊँचे राजभवन, मण्डप, सभागृह, चित्रशाला, नृत्यशाला आदि गृह।

7. मणिमय दीपक।

8. थाली, कटोरा, भृंगार, करक आदि बर्तन।

9. मालाएँ, कर्णफूल आदि।

10. प्रकाशमान कांति।

ये कल्पवृक्ष वनस्पतिकायिक या देवों के द्वारा अधिष्ठित नहीं होते हैं; अपितु पृथ्वीकायिक होते हैं।

इन वृक्षों के नीचे देव–देवियाँ सुख पूर्वक बैठते हैं। गृहांग/आलयांग जातीय कल्पवृक्षों के नीचे भवनेन्द्र (भवनवासी देव), दीपांग जातीय कल्पवृक्षों के नीचे कल्पवासी देव, ज्योतिरंग/तेजांग जातीय कल्पवृक्षों के नीचे ज्योतिषी देव यथायोग्य सुख पूर्वक निवास करते हैं।

कल्पवृक्ष ऊँचे, छायादार, फलों और फूलों से युक्त होते हैं। इन वृक्षों के नवीन पल्लव (पत्ते) लाल–लाल होते हैं।

जिस जाति के वृक्ष जो फल देते हैं, वे फल उन वृक्षों पर ही लटके रहते हैं। जैसे मालांग कल्पवृक्ष पर मालाएँ, दीपांग कल्पवृक्ष पर दीप, भूषणांग कल्पवृक्ष पर भूषण, वस्त्रांग कल्पवृक्ष पर वस्त्र आदि लटके रहते हैं; इत्यादि अन्य सर्व कल्पवृक्ष भी अपने–अपने फलों से युक्त अतिशय देदीप्यमान होते हैं।

कल्पवृक्षों की पंक्तियों से युक्त यह छठवीं कल्पभूमि देवकुरु और उत्तरकुरु के समान ही सुशोभित होती है तथा इस भाँति दिखलाई देती है कि देवकुरु और उत्तरकुरु स्वयं ही भगवान की सेवा करने के लिए ही आए हों।

इन कल्पवृक्षों की ऊँचाई तीर्थंकरों के परमौदारिक दिव्य देह से बारह गुणा होती है अर्थात् कल्पवृक्षों की ऊँचाई 6000 धनुष (3 कोस) होती है। इनकी लम्बाई और विस्तार के प्रमाण का उपदेश नष्ट हो गया है।

जिसप्रकार चौथी उपवन भूमि में चारों दिशाओं में अशोक आदि भिन्न–भिन्न उपवन हैं तथा जिसप्रकार अशोक आदि वनों के नाम भी अशोकादि वृक्षों के नामानुसार ही हैं; उसीप्रकार यह कल्पभूमि भी चारों दिशाओं में समान होने पर भी चारों दिशाओं की कल्पभूमियों के नाम भिन्न–भिन्न हैं।

पूर्व दिशा की कल्पभूमि का नाम **नमेरु** है।

दक्षिण दिशा की कल्पभूमि का नाम **मंदार** है।

पश्चिम दिशा की कल्पभूमि का नाम **संजातक** है।

उत्तर दिशा की कल्पभूमि का नाम **पारिजातक** है।

जिसप्रकार उपवन भूमि के मध्य में एक–एक चैत्यवृक्ष होता है;

उसीप्रकार इस कल्पभूमि में भी नमेरु, मंदार, संजातक और पारिजातक नामक सिद्धार्थ वृक्ष होते हैं। इन सिद्धार्थ वृक्षों के कारण ही पूर्वादि दिशाओं की कल्पभूमियों को नमेरु आदि नामों से अभिहित किया गया है।

ये सिद्धार्थ वृक्ष भी चैत्यवृक्ष के समान ही चार-चार गोपुर-द्वारों सहित 3 कोटों से युक्त होते हैं। इन कोटों से घिरी हुई 3 कटनीदार पीठिका (3 पीठ) होती हैं। जिन पर नमेरु आदि सिद्धार्थ वृक्ष स्थित होते हैं। इन वृक्षों के मूल में अर्थात् पीठिकाओं के ऊपर चार-चार रत्नमयी सिद्ध प्रतिमाएँ विराजमान होती हैं और चार-चार मानस्तम्भ भी होते हैं। **(सिद्धार्थ वृक्ष का चित्र पृष्ठ 194 पर देखें।)**

सूर्य के समान कांति वाले एक सिद्धार्थ वृक्ष की प्रत्येक दिशा में 1-1 सिद्ध प्रतिमा और 1-1 मानस्तम्भ होते हैं; इसप्रकार एक सिद्धार्थ वृक्ष की चारों दिशाओं में कुल चार सिद्ध प्रतिमाएँ और चार मानस्तम्भ होते हैं तथा चारों दिशाओं के चार सिद्धार्थ वृक्षों की कुल 16 सिद्ध-प्रतिमाएँ और 16 मानस्तम्भ होते हैं तथा इन वृक्षों की कांति सूर्य के समान होती है।

प्रश्न – इन वृक्षों को सिद्धार्थ वृक्ष क्यों कहा जाता है?

उत्तर – जिसप्रकार चैत्यवृक्ष के मूल में चैत्य होने से चैत्य वृक्ष कहा जाता है; उसीप्रकार इन सिद्धार्थ वृक्षों के मूल में सिद्ध प्रतिमा होने से इन वृक्षों को सिद्धार्थ वृक्ष कहा जाता है।

प्रश्न – सिद्ध प्रतिमाएँ क्या चैत्य नहीं होती हैं?

उत्तर – सामान्य रूप से तो अरहंत और सिद्ध दोनों प्रतिमाएँ जिन (चैत्य) होती हैं; परन्तु यहाँ आचार्य यतिवृषभ स्वामी ने दोनों में किंचित् भेद करते हुए लिखा है कि –

भवणखिदिप्पणिधीसुं वीहिं पडि होंति णवणवा थूहा।
जिणसिद्धप्पडिमाहिं अप्पडिमाहिं समाइण्णा।।844।।

अर्थात् भवन भूमि के पार्श्व भागों में प्रत्येक वीथी के मध्य में जिन और सिद्धों की प्रतिमाओं से व्याप्त 9-9 स्तूप होते हैं।

इन सिद्धार्थ वृक्षों की ऊँचाई तीर्थंकरों के परमौदारिक दिव्य देह से बारह गुणा होती है अर्थात् सिद्धार्थ वृक्षों की ऊँचाई 6000 धनुष (3 कोस) होती है। इनकी लंबाई और विस्तार के प्रमाण का उपदेश नष्ट हो गया है।

इस कल्पभूमि में वापिकाएँ भी हैं; जो कमल, उत्पल (नील कमल) और कुमुद वन की सुगंध से परिपूर्ण एवं देव, मनुष्य के युगलों के शरीर से निकले हुए केशर के मर्दन से पीले जल वाली हो जाती हैं।

यहाँ विविध रत्नों से निर्मित प्रासाद होते हैं, जो बहुत खण्डों वाले हैं और तीर्थंकर की ऊँचाई से 12 गुणे ऊँचे होते हैं अर्थात् 6000 धनुष प्रमाण ऊँचे होते हैं।

इसके अतिरिक्त यहाँ क्रीड़ाशालाएँ, नाट्यशालाएँ भी होती हैं। जो पूर्व की नाट्यशालाओं के समान ही हैं। महावीथी में से कल्पभूमि में प्रवेश करते समय दोनों पार्श्व भागों में एक-एक नाट्यशाला है इसप्रकार एक दिशा की कल्पभूमि के चार तटों पर चार नाट्यशालाएँ होती हैं तथा चारों दिशाओं के 16 तटों पर 16 नाट्यशालाएँ होती हैं।

ये नाट्यशालाएँ 6000 धनुष प्रमाण ऊँची, रत्नों से निर्मित तथा 5 खण्डों वाली हैं, जिनमें ज्योतिषी कन्याएँ नृत्य करती हैं।

इन कल्पवृक्षों के वन में कहीं बावड़ियाँ (वापिकाएँ), कहीं नदियाँ, कहीं बालू के ढेर (नदी पुलिन) और कहीं सभागृह आदि सुशोभित होते हैं।

इसप्रकार यह छठवीं कल्पभूमि 10 प्रकार के कल्पवृक्षों से, सिद्धार्थ वृक्षों से, प्रासादों से, क्रीड़नशालाओं एवं नाट्यशालाओं से अत्यन्त मनोहर और 7332 धनुष प्रमाण विस्तृत है तथा तीसरा कोट और

छठवीं भूमि (666.66+7332=7998.66 धनुष) दोनों 1 योजन (8000 धनुष) विस्तृत क्षेत्र में स्थित हैं।

चौथी वेदी

छटवीं कल्पभूमि के बाद और सातवीं भवन भूमि के पहले अथवा छठवीं और सातवीं भूमि के मध्य में यह चौथी वेदी स्थित है।

इस चौथी वेदी को भी वनवेदी कहते हैं; क्योंकि यह वेदी भी कल्पवृक्षों के वनों से सटी (स्पर्शित) हुई है; अतः वनवेदी कहते हैं।

यह स्वर्णमय वनवेदी चाँदीमय 4 गोपुरद्वारों से युक्त है। गोपुरद्वार भी 100-100 तोरण, नवनिधि, अष्ट मंगल द्रव्य, द्वारपाल और पुतलियों सहित धूपघटों से युक्त हैं। इन गोपुरद्वारों के द्वारपाल, भवनवासी देव हैं और वेदी के ऊपर ध्वज, घंटे, मालादि टँगी हुईं हैं।

इसप्रकार यह चाँदीमय गोपुर-द्वारों से युक्त स्वर्णमय वनवेदी अत्यन्त मनोहर एवं 333.33 धनुष प्रमाण विस्तृत है।

सातवीं भवन भूमि

चौथी वनवेदी के बाद और चौथे कोट के पहले अथवा चौथी वनवेदी और चौथे कोट के मध्य में यह सातवीं भवन भूमि स्थित है।

इस सातवीं भूमि में अनेक भवन स्थित होते हैं; अतः इस भूमि को भवन कहते हैं – ''यहाँ देवरूपी कारीगरों के द्वारा बनाई गई अनेक प्रकार की भवनों की पंक्तियाँ स्वर्णमय स्तम्भों पर खड़ी हुई हैं, जिनकी नींव वज्रमयी होती है, दीवालें चंद्रकान्तमणि से निर्मित होती हैं।

ये भवन अनेक प्रकार के रत्नों से चित्रित होते हैं तथा फहराती हुईं ध्वजाओं (पताकाओं) से सहित होते हैं; अट्टालिकाओं सहित हैं; वलभी छत (खुली छत, परन्तु चारों ओर से ऊँची दीवालें) हैं; कितने ही भवन 2 खण्ड वाले, कितने ही भवन 3 खण्ड वाले, कितने ही भवन 4 खण्ड (मंजिल) वाले होते हैं।''[1]

(सातवीं भवन भूमि का चित्र पृष्ठ 195 पर देखें।)

1. आदिपुराण – 22/256-258

''इन भवनों में सुर-युगल (देव-देवियाँ), गन्धर्व, सिद्ध (एक प्रकार के देव), विद्याधर, अग्निकुमार और किन्नर जाति के देव क्रीड़ा करते हैं; गीत, नृत्य और बाजों के शब्दों आदि की गोष्ठियों द्वारा भगवान की भक्ति करते हैं; जिनाभिषेक से शोभायमान होते हैं।''[1]

''इस भूमि में सभागृह, प्रेक्षागृह (नाट्यशाला, अजायबघर), कहीं पर कूटगार आदि सुशोभित होते हैं, आसन रखे रहते हैं, ऊँची-ऊँची चंद्रकान्तमणियों की सीढ़ियाँ होती हैं तथा शय्याएँ अपनी कान्ति से आकाश को सफेद-सफेद करती हैं।''[2]

''यहाँ सभागृह, उपवन आदि पहले के समान ही होते हैं तथा इन भवन पंक्तियों का विस्तार 11 से गुणित प्रथम वेदी के विस्तार के समान है अर्थात् 333.33 ह्न 11 = 3666.6 धनुष प्रमाण है। इसप्रकार चतुर्थ वेदी और सातवीं भूमि (333.33 + 3666 = 3999.66 धनुष) दोनों आधा योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित हैं।''[3]

इस भूमि को 'हरिवंशपुराण'[4] और 'तत्त्वार्थसार'[5] में मन्दिर भूमि कहा है। साथ ही इस नाम की सार्थकता बताते हुए कहते हैं कि इस भूमि में अनेक पंक्ति रूप जिनमन्दिरों की रचना होने से इसे मन्दिर भूमि कहते हैं।

स्तूप

इस भवन भूमि के पार्श्व भागों में 4 महावीथियाँ हैं। उन महावीथियों में स्तूप स्थित हैं। एक महावीथी में 9-9 स्तूप स्थित हैं। इसप्रकार चारों महावीथियों में कुल 36 स्तूप स्थित होते हैं। ये 9-9 स्तूप पंक्तिरूप में स्थित होते हैं, महावीथी सीढ़ियों से गंधकुटी तक पहुँचती

1. तिलोय पण्णत्ति – 4/842 2. आदिपुराण 22/259 3. तिलोय पण्णत्ति – 4/843
4. हरिवंशपुराण – 57/71 5. तत्त्वार्थसार, पृष्ठ-72

हैं, उसी दिशा में ये 9-9 स्तूप पंक्तिरूप में स्थित होते हैं।

ये स्तूप सुमेरु पर्वत के समान ऊँचे होते हैं तथा अग्रभाग से आकाश का उल्लंघन करते हुए दिखलाई देते हैं, पद्मरागमणियों से निर्मित लाल-लाल होते हैं। स्तूपों के ऊपर छत्र, फहराती हुई पताकाएँ तथा अष्ट मंगल द्रव्य होते हैं। **(स्तूप का चित्र पृष्ठ 192 पर देखें।)**

एक स्तूप से दूसरे स्तूप के बीच में 100-100 तोरण स्थित होते हैं तथा जिनकी चारों दिशाओं में जिन (अरिहंत) और सिद्ध प्रतिमाएँ विराजमान होती हैं। जो विद्याधर, सिद्ध (एक प्रकार के देव) और चारण ऋद्धिधारी मुनियों के द्वारा आराधना करने योग्य होती हैं। भव्यजीव स्तूपों का अभिषेक, पूजन और प्रदक्षिणा देते हुए हर्ष का अनुभवन करते हैं।

प्रत्येक वीथी के 9 स्तूप केवलज्ञान आदि 9 लब्धियों की भाँति सुशोभित होते हैं।

प्रश्न – केवलज्ञान आदि 9 लब्धियाँ कौन-कौन सी हैं?

उत्तर – केवलज्ञानादि 9 लब्धियों के नाम इसप्रकार हैं –

1. दान, 2 लाभ, 3. भोग, 4. परिभोग, 5. वीर्य, 6. सम्यक्त्व, 7. दर्शन, 8. ज्ञान, 9. चारित्र''[1]

इन स्तूपों की ऊँचाई चैत्य वृक्षों के समान ही है। वृक्षों की ऊँचाई तीर्थंकरों के परमौदारिक दिव्य देह से बारह गुणा होती है अर्थात् स्तूपों की ऊँचाई 6000 धनुष (3 कोस) होती है। इनकी लंबाई और विस्तार के प्रमाण का उपदेश नष्ट हो गया है।

हरिवंशपुराण में इन स्तूपों का वर्णन 4 स्थानों पर किया है; परन्तु चारों ही स्थानों पर भिन्न-भिन्न वर्णन किया गया है; यथा –

1. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा- 63

1. इसके 54वें श्लोक में लिखा है –

तोरणान्तरिताः सार्वाः स्तूप नव नवाध्वसु।।

अर्थात् मार्गों में तोरणों से युक्त, सबका भला करने वाले 9-9 स्तूप स्थित हैं।

2. इसी सर्ग के 71वें श्लोक में लिखा है –

स्तूपा द्वादश भूभूषा भूषयन्त्यथ मंदिरम्।
हिरण्मया महामेरुं चत्वारो मेरवो यथा।।71।।

सिद्धार्थ वृक्ष के आगे एक मंदिर है, जिसे पृथ्वी के आभरण स्वरूप 12 स्तूप उसी तरह सुशोभित करते रहते हैं; जिसप्रकार स्वर्णमय चार मेरू पर्वत जम्बूद्वीप के महामेरु को सुशोभित करते हैं।

3. तत्पश्चात् 94 से 106 श्लोकों तक 11 स्तूपों के नाम व स्वरूप को स्पष्ट किया है। यथा –

सामान्य स्वरूप – जिन पर पताकाओं की पंक्ति फहराती रहती है; जो 1 योजन ऊँचे हैं; नीचे वेत्रासन के समान, मध्य में झालर के समान, ऊपर मृदंग के समान तथा अन्त में ताल वृक्ष के समान लंबी नलिका से सहित हैं; स्वच्छ स्फटिक मणि के समान रूप हैं और भीतर की रचना अत्यन्त स्पष्ट है।

1. **लोक स्तूप** – विजयांगण के कोनों में चार लोक स्तूप होते हैं। जिनमें लोक की रचना अत्यन्त स्पष्ट दिखलाई देती है।

2. **मध्यलोक स्तूप** – इस स्तूप के भीतर मध्य लोक की रचना स्पष्ट दिखलाई देती है।

3. **मंदार स्तूप** – मंदराचल के समान देदीप्यमान है। इनकी चारों दिशाओं में भगवान की प्रतिमाएँ सुशोभित होती हैं।

4. **कल्पवास स्तूप** – कल्पवासियों की रचना से युक्त हैं तथा कल्पवासी देवों की विभूति को साक्षात् दिखलाते हैं।

5. **ग्रैवेयक स्तूप –** ग्रैवेयक के आकार इसमें बने होते हैं। मनुष्यों को ग्रैवेयकों की शोभा दिखलाते हैं।

6. **अनुदिश स्तूप –** इनमें प्राणियों को 9 अनुदिशों की रचना प्रत्यक्ष दिखलाई देती है।

7. **सर्वार्थसिद्धि स्तूप –** विजयादि विमानों से सुशोभित है तथा सर्व प्रयोजनों की सिद्धि करने वाले हैं।

8. **सिद्ध स्तूप –** स्फटिक-से निर्मल इन सिद्धों के स्वरूप को प्रकट करने वाली दर्पणों की छाया दिखलाई देती है।

9. **भव्यकूट स्तूप –** देदीप्यमान शिखरों से युक्त इस भव्य कूट स्तूप को अभव्य जीव नहीं देख पाते हैं; क्योंकि उनके प्रभाव से अभव्यों के नेत्र अंधे हो जाते हैं।

10. **प्रमोद स्तूप –** जिन्हें देखकर लोग अत्यधिक विभ्रम में पड़ जाते तथा चिर काल से अभ्यस्त गृहीत वस्तुओं को भी भूल जाते हैं।

11. **प्रबोध स्तूप –** इन्हें देखकर लोग प्रबोध को प्राप्त होते हैं तथा तत्त्व को प्राप्तकर साधु होकर निश्चित ही संसार से छूट जाते हैं।

4. इन 11 स्तूपों के स्वरूप के वर्णन के बाद 107वें श्लोक में लिखते हैं –

एवमान्योऽन्यसंसक्तवेदिकातोरणोज्वलाः।
दश स्तूपाः समुत्तुङ्गाः राजन्त्यापरिधेः क्रमात्।।107।।

अर्थात् इसप्रकार जिनकी वेदिकाएँ एक दूसरे से सटी हुई हैं तथा जो तोरणों से समुद्भासित हैं, ऐसे अत्यन्त ऊँचे 10 स्तूप क्रम-क्रम से परिधि तक सुशोभित होते हैं।

प्रश्न – उपर्युक्त चारों कथनों में से कौन-सा कथन सत्य है और कौन-सा असत्य है?

उत्तर – यद्यपि उपर्युक्त कथनों में से जो कथन अन्य (आचार्य यतिवृषभ, आचार्य जिनसेन स्वामी) आचार्यों के कथनों के साथ मेल खाता है, उस कथन को ही स्वीकार करते हैं अर्थात् एक महावीथी में 9-9 स्तूप होते हैं।

देखा जाए तो प्रथम तो यह आचार्यों की वाणी है; अतः असत्य होने की संभावना ही नहीं है; करणानुयोग का विषय होने से तथा गुरु परिपाटी के कारण क्वचित्-किंचित् भेद हो सकता है।

अब रही बात स्तूपों की संख्या का निश्चय किस आधार पर किया जाए? तो जो संख्या अन्य आचार्यों ने निरूपित की है, उसी संख्या का यहाँ निश्चय करना चाहिए। अन्य आचार्यों ने स्तूपों की संख्या 9-9 बतलाई है; अतः एक दिशा में स्तूपों की संख्या 9-9 ही निश्चित करना चाहिए। इसप्रकार चारों दिशाओं में कुल 36 स्तूप होते हैं।

दूसरा कारण यह है कि समवशरण की रचना अकृत्रिम चैत्यालयों के समान होती है और अकृत्रिम चैत्यालयों में9-9 स्तूप ही होते हैं; अतः यहाँ पर 9-9 स्तूपों की संख्या का ही निश्चय करना चाहिए।

प्रश्न – तब फिर 11 स्तूपों में से कौन-से 9 स्तूपों को स्वीकार करें?

उत्तर – उपर्युक्त 11 स्तूपों में से प्रारंभ के 9 स्तूप ही होने चाहिए; क्योंकि प्रारंभ के 9 स्तूपों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है तथा अन्तिम 2 स्तूपों का स्वरूप अन्य 9 स्तूपों के सामान्य स्वरूप के समान अथवा उनके फल स्वरूप ही प्रतिभासित होता है।

दूसरी बात यह भी है कि नौवाँ स्तूप, भव्य कूट स्तूप है। इसके आगे अभव्य-जीव नहीं जा सकते; अतः इस भव्य-कूट स्तूप के आगे ही आठवीं पृथ्वी होनी चाहिए; क्योंकि अभव्य-जीव सातवीं भूमि

पर्यन्त तक तो जा सकते हैं; परन्तु आठवीं भूमि में प्रवेश नहीं कर सकते हैं; अतः वह भव्य कूट स्तूप ही अन्तिम स्तूप होना चाहिए।

''जिस स्थान पर ये 9 स्तूप स्थित हैं; उस स्थान को विजयांगण कहते हैं तथा वहाँ 'कल्याण हो', 'जय हो' के शब्द गुंजायमान होते रहते हैं; अतः इसी स्थान को कल्याण-जयांगण अथवा जयांगण भी कहते हैं अर्थात् चौथी वेदी के द्वार से चौथे कोट के द्वार तक का स्थान विजयांगण अथवा कल्याण-जयांगण अथवा जयांगण कहलाता है।''[1]

इसप्रकार अनेक प्रासादों एवं स्तूपों से युक्त यह सातवीं भूमि अत्यधिक देदीप्यमान होती है।

चौथा कोट

सातवीं भवनभूमि के बाद और आठवीं श्रीमण्डप भूमि के पहले अथवा सातवीं और आठवीं भूमि के मध्य में यह चौथा कोट स्थित है।

यह कोट स्फटिकमणिमय होने से विशुद्ध परिणमन (परिणाम) वाला है और भव्य-जीवों के समान ही है। जिसप्रकार भव्य-जीवों के विशुद्ध परिणाम होते हैं; उसी प्रकार इस कोट का परिणमन भी विशुद्ध ही होता है।

''कोट अत्यन्त ऊँचा है, विजयार्ध पर्वत ही कोट का रूप धारण करके भगवान की प्रदक्षिणा दे रहा हो – ऐसा सुशोभित होता है।''[2]

''इस कोट का आकार मानुषोत्तर पर्वत के समान है। नीचे अधिक विस्तार वाला है और ऊपर जाते-जाते विस्तार कम होता जाता है तथा पर्वत के अग्रभाग पर कूट बने हुए हैं; उसीप्रकार यह चौथा कोट भी नीचे से अधिक विस्तार वाला है और ऊपर जाते-जाते विस्तार कम होता जाता है तथा कोट के अग्रभाग पर कूट के समान कंगूरे बने हुए हैं।

1. हरिवंशपुराण – 57/79 2. आदिपुराण – 22/272

ये कंगूरे बंदर के सिर के आकार वाले होते हैं तथा ये 1 हाथ 1 वितस्ति (विलस्ति) चौड़े और 1 वेमा ऊँचे होते हैं।''[1]

यह कोट भी 4 गोपुरद्वारों से युक्त है; जो 'पद्मरागमणि'[2], 'मरकतमणि'[3] और 'नाना रत्नों से निर्मित 7 खण्डों वाले हैं''[4] ''100-100 तोरण, नव निधि, अष्ट मंगल द्रव्य, द्वारपाल और पुतलियों सहित धूपघटों से युक्त हैं। ये चारों गोपुर द्वार हरितवर्णीय हैं तथा इन द्वारों के द्वारपाल कल्पवासी देव हाथों में उत्तम रत्नों से निर्मित भुजदण्ड लिए हुए खड़े होते हैं।''[5]

''इन कोट और वेदियों के ऊपर अष्ट मंगल द्रव्यों में से दर्पण नामक मंगल द्रव्य में पूर्व भव दिखलाई देते हैं।''[6]

प्रश्न – समवशरण में पूर्व भव कुल कितने स्थानों पर दिखलाई देते हैं?

उत्तर – समवशरण में पूर्व भव कुल 3 स्थानों पर दिखलाई देते हैं।

1. भामण्डल (आभामण्डल, प्रभामण्डल)
2. दर्पण नामक मंगल द्रव्य
3. वापिका।

इन तीन स्थानों पर पूर्व भव दिखलाई देते हैं।

दर्पण नामक मंगल द्रव्य समवशरण में मात्र एक ही नहीं है, अपितु अनेक हैं। 4 महावीथियों के 36 द्वार हैं। 1 द्वार पर 108 दर्पण नामक मंगल द्रव्य हैं – इसप्रकार 36 द्वारों पर कुल 36ह108 = 3888 दर्पण नामक मंगल द्रव्य होते हैं तथा अन्यत्र अनेक स्थानों पर और भी मंगल द्रव्य होते हैं। जैसे चैत्यवृक्ष, सिद्धार्थवृक्ष, भवन, मानस्तम्भ, स्तूप इत्यादि।

1. हरिवंशपुराण – 57/65 2. आदिपुराण – 22/273
3. तिलोय पण्णत्ति – 4/848 4. हरिवंशपुराण – 57/56
5. तिलोय पण्णत्ति – 4/849 6. हरिवंशपुराण – 57/61

इसीप्रकार समवशरण में वापिका भी एक नहीं होती है; अपितु अनेक होती हैं। जैसे 4 मानस्तम्भों की 16 वापिकाएँ, उपवनभूमि की 16 वापिकाएँ तथा कल्पभूमि, भवनभूमि इत्यादि में भी वापिकाएँ होती हैं।

पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, आदिपुराण, रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका में इस चौथे कोट को तीसरा कोट ही स्वीकार किया है अर्थात् कुल 3 कोट (2,3,4) ही स्वीकार किये हैं। धूलिसाल कोट को इन 3 कोटों में शामिल नहीं किया है। उसका वर्णन पृथक् से ही किया है।

इसका यह कारण हो सकता है कि साल अर्थात् कोट, इसमें पहले कोट को धूलि कोट (साल) कह दिया तथा दूसरे तीसरे और चौथे कोट के नाम नहीं लिखे; अतः इन्हें पहला, दूसरा और तीसरा कोट कह दिया है।

इसप्रकार स्फटिक-मणिमय तथा तोरणद्वारों से युक्त यह चौथा कोट अत्यन्त मनोहर एवं 166.66 धनुष प्रमाण विस्तृत है।

आठवीं श्रीमण्डप भूमि

चौथे कोट के बाद और चौथी वेदी के पहले अथवा चौथे कोट और चौथी वेदी के मध्य में यह आठवीं श्रीमण्डप भूमि स्थित है।

इस भूमि में लक्ष्मी-संयुक्त मण्डप है; अतः भूमि को श्रीमण्डप कहते हैं। इस श्री मण्डप को 'महोदय' मण्डप भी कहते हैं।

चौथे कोट से पाँचवीं वेदी पर्यन्त लम्बी 16 दीवालें हैं। एक महावीथी के दोनों पार्श्व भागों में एक-एक दीवाल है अर्थात् एक महावीथी की दो दीवालें, इसप्रकार 4 महावीथियों की 8 दीवालें होती हैं। एक महावीथी की दीवाल तथा दूसरी महावीथी की दीवाल के

मध्य दो दीवालें हैं, तब चारों दिशाओं में 8 दीवालें हो जाती हैं। इसप्रकार 8 महावीथी की 8 दीवालों के साथ अन्य 8 दीवालों को मिलाने पर कुल 16 दीवालें हो जाती हैं अथवा एक दिशा में चार दीवालें होती हैं तथा चारों दिशाओं में कुल 16 दीवालें होती हैं।

"ये दीवालें निर्मल स्फटिकमणि से निर्मित हैं।"[1] "इन पर सफेद फूलों की मालाएँ लटकी रहती हैं तथा मुरझाने के स्वभाव से रहित होती हैं। इन पर निरन्तर भ्रमर बैठे रहते हैं।"[2]

इन 16 दीवालों की ऊँचाई, चौड़ाई और वर्ण महावीथी की दोनों पार्श्व भागों वाली वेदी (भित्ति/दीवाल) के समान ही है अर्थात् इन दीवालों की ऊँचाई 2000 धनुष प्रमाण, मोटाई 750 धनुष प्रमाण तथा वर्ण स्फटिक-मणिमय होता है।

प्रश्न – तिलोय पण्णत्ति की 854वीं गाथा में तो कोठों की ऊँचाई तीर्थंकर की ऊँचाई से 12 गुणा अर्थात् 6000 धनुष कही है; अतः दीवालों की ऊँचाई भी 6000 धनुष होनी चाहिए?

उत्तर – हाँ, सही है कि कोठों की ऊँचाई 6000 धनुष (3 कोस) होती है; परन्तु दीवालों की ऊँचाई तो 2000 धनुष (1 कोस) ही होती है। इन दीवालों के ऊपर 4000 धनुष (2 कोस) ऊँचाई वाले स्तम्भ होते हैं[3] तथा इन स्तम्भों पर मण्डप स्थित होता है; अतः दीवालों और स्तम्भों की ऊँचाई को जोड़ने पर कोठों की ऊँचाई मिल जाती है।

प्रश्न – स्तम्भों की रचना किसप्रकार की होती है?

उत्तर – एक दीवाल के ऊपर रत्नमयी 2 स्तम्भ होते हैं। एक स्तम्भ दीवाल के प्रारंभ में होता है और दूसरा स्तम्भ दीवाल के अंत में होता है। इसप्रकार 16 दीवालों के ऊपर कुल 32 स्तम्भ 4000 धनुष

1. आदिपुराण – 22/277 2. आदिपुराण – 22/284 3. तत्त्वार्थसार, पृष्ठ-73

(2 कोस) ऊँचे होते हैं। इन 32 स्तम्भों ने अपने ऊपर श्रीमण्डप को धारण कर रखा है। **(आठवीं श्रीमण्डप भूमि का चित्र पृष्ठ 198 पर देखें।)**

''हरिवंशपुराण में इस मण्डप को महोदय नामक मण्डप कहा है, जो 1000 स्तम्भों पर खड़ा हुआ है।''[1] तथा यह ''श्रीमण्डप 3 कोस ऊँचा और 4 कोस चौड़ा होता है।''[2]

''श्रीमण्डप में नीलकमलों के ऊपर बैठी भ्रमरों की पंक्ति दिखलाई नहीं देती है; मात्र उनकी गुंजार ही सुनाई देती है।''[3] तथा ''हंसों का समूह भी श्रीमण्डप के प्रकाश में छिप जाता है, उनके भी मात्र मधुर शब्द ही सुनाई देते हैं।''[4]

''यह श्रीमण्डप स्फटिकमणि से बना हुआ है। मण्डप के ऊपर यक्ष (व्यंतर) के द्वारा रत्नमयी फूल छोड़े जाते हैं अर्थात् पुष्पवृष्टि करते हैं, जो नीचे बैठे हुए मनुष्यों को तारों के समान दिखलाई देते हैं''[5] तथा 12 योजन तक अपनी पराग को फैलाते हैं।

यह **पुष्पवृष्टि** ही अष्ट प्रातिहार्यों में पहला प्रातिहार्य है।

श्री मण्डप के नीचे 16 दीवालों के मध्य 16 स्थान होते हैं। इन 16 स्थानों में से 4 स्थान तो 4 महावीथियों ने घेर लिए हैं; शेष रहे 12 स्थान ही 12 कोठे हैं। इन 12 कोठों में ही 12 सभाएँ उपस्थित होती हैं; अतः इन 12 कोठों को 12 सभा भी कहते हैं।

एक दिशा में 3 कोठे होते हैं तथा 12 कोठों में कुल 12 सभाएँ होती हैं। इन 12 कोठों में स्थित 12 सभाओं के नाम इसप्रकार हैं –.

पूर्व दिशा की 3 सभाएँ –

1. मुनि (अक्षीण महानस, सर्पिस्रावी, अंतर्स्रावी रसऋद्धि आदि के धारक गणधर प्रमुख होते हैं।)

1. हरिवंशपुराण – 57/86 2. तत्त्वार्थसार, पृष्ठ–73 3. आदिपुराण – 22/285
4. आदिपुराण – 22/286 5. आदिपुराण – 22/283

2. कल्पवासी देवियाँ
3. आर्यिकाएँ तथा श्राविकाएँ।

दक्षिण दिशा की 3 सभाएँ –

4. ज्योतिषी देवियाँ
5. व्यंतर देवियाँ
6. भवनवासी देवियाँ।

पश्चिम दिशा की 3 सभाएँ –

7. 10 प्रकार के भवनवासी देव
8. 8 प्रकार के व्यंतर देव
9. चंद्र, सूर्यादि ज्योतिषी देव।

उत्तर दिशा की 3 सभाएँ –

10. कल्पवासी देव
11. मनुष्य (चक्रवर्ती, माण्डलिक राजा एवं अन्य मनुष्य)
12. तिर्यंच (हाथी, सिंह, हिरणादि)।

परन्तु 'पद्मपुराण'[1] में सभाओं के क्रम में किंचित् अंतर है। वहाँ 7वीं सभा में ज्योतिषी देव हैं और 9वीं सभा में भवनवासी देव हैं; मात्र इतना ही अन्तर है, शेष यथावत् है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका में भी सभाओं के क्रम में कुछ अन्तर है। वहाँ मनुष्यों की चौथी सभा है, ग्यारहवीं नहीं। चौथी से दशवीं तक की सभी सभाएँ उसी क्रम में 5वीं से 11वीं तक की सभाओं के रूप में स्थित हैं।

इसप्रकार सभाओं के क्रम के संबंध में किंचित् भेद पाया जाता है।

पहली मुनियों की सभा में तीर्थंकर देव का सप्तविध संघ विराजमान होता है। यथा –

1. पद्मपुराण, सर्ग–2, श्लोक–141

1. पूर्व-धर, 2. शिक्षक, 3. अवधिज्ञानी, 4. केवलज्ञानी, 5. विक्रियाधारी, 6. विपुलमति, 7. वादी।

इन 12 सभाओं में अर्थात् 1 योजन प्रमाण संख्यात क्षेत्र में पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात जीव स्थित होते हैं।

प्रश्न – एक योजन प्रमाण 12 सभाओं के संख्यात प्रदेशी क्षेत्र में असंख्यात जीव कैसे बैठ सकते हैं?

उत्तर – उस क्षेत्र में अक्षीण-महानस ऋद्धि के धारक गणधर देव विराजमान होते हैं। गणधर देव की इस ऋद्धि के प्रभाव से 1 योजन प्रमाण संख्यात क्षेत्र में असंख्यात जीव बैठ जाते हैं तथा बैठने में परस्पर किंचित् मात्र भी बाधा नहीं होती है; यह सब अक्षीण-महानस ऋद्धि के धारक गणधर देव और तीर्थंकर देव के अतिशय का ही प्रभाव है कि सर्व जीव परस्पर बाधा रहित होकर वहाँ बैठते हैं।

12 सभाओं के 1 योजन प्रमाण संख्यात क्षेत्र में स्थित असंख्यात जीव परस्पर अपने पूर्व बैर को भूलकर बैठते हैं तथा शत्रु भी परस्पर मित्रता को धारण करते हैं।

समवशरण में किसी भी जीव का जन्म-मरण नहीं होता है; किसी प्रकार का रोग भी नहीं होता है; क्योंकि वहाँ 8 प्रकार की औषधि ऋद्धियों के धारक गणधर देव विराजमान होते हैं। उनकी इसी ऋद्धि के प्रभाव से अथवा तीर्थंकर देव के अतिशय के कारण यहाँ किसी भी प्रकार का रोग नहीं होता है। कोई अंधा, लूला, लँगड़ा, काना नहीं होता है; सब कुशल, स्वस्थ होते हैं। यदि कोई रोगी, अंधा, लूला, लँगड़ा, बहरा, काना हो तो समवशरण में प्रवेश करते ही स्वस्थ हो जाता है तथा सर्व प्रकार के रोग दूर हो जाते हैं।

प्रश्न – आठवीं श्रीमण्डप भूमि में कौन-कौन प्रवेश कर सकते हैं?

उत्तर – सामान्य रूप से देव, मनुष्य और तिर्यंच प्रवेश कर सकते हैं; विशेष रूप से जीव 2 प्रकार के होते हैं – 1. संज्ञी, 2. असंज्ञी।

असंज्ञी जीव प्रवेश नहीं कर सकते हैं। मात्र संज्ञी जीव ही प्रवेश कर सकते हैं; परन्तु सर्व संज्ञी जीव भी प्रवेश नहीं कर सकते हैं। संज्ञी जीव भी 2 प्रकार के होते हैं – 1. भव्य, 2. अभव्य।

अभव्य जीव प्रवेश नहीं कर सकते हैं, अभव्य जीव तो सातवीं भूमि में स्थित भव्य कूट स्तूप के भी दर्शन नहीं कर सकते हैं। यदि दर्शन कर लें तो अंधे हो जाएँ; अतः आठवीं भूमि में मात्र भव्य जीव ही प्रवेश कर सकते हैं; परन्तु सर्व भव्य जीव भी प्रवेश नहीं कर सकते हैं। भव्यों में भी ''तीव्र कषायवान, मिथ्यादृष्टि, संदेही और विपरीतता लिये हुए जीव इस आठवीं भूमि में प्रवेश नहीं कर सकते हैं।''[1]

आचार्य विष्णुसेन स्वामी समवशरण स्तोत्र में कहते हैं कि –

मिथ्यादृष्टिरभव्योऽसंज्ञी जीवोऽत्र विद्यते नैव।
यश्चानध्यसायो यः संदिग्धो विपर्यस्तः।।58।।

अर्थ – समवशरण में कोई भी मिथ्यादृष्टि, अभव्य, असंज्ञी जीव नहीं रहते हैं और न ही संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय होता है।

इसप्रकार यह श्रीमण्डप भूमि 16 दीवालें, 32 स्तम्भों, 12 सभाओं और महोदय मण्डप से अत्यधिक शोभायमान और 1666 धनुष प्रमाण विस्तृत है।

पाँचवीं वेदी

आठवीं श्रीमण्डप भूमि के बाद और तीन पीठों के पहले अथवा आठवीं भूमि और तीन पीठों के मध्य में यह पाँचवीं वेदी स्थित है।

यह वेदी निर्मल स्फटिकमणि से निर्मित है तथा चौथे कोट के विस्तार के समान ही इस वेदी का भी विस्तार 166.66 धनुष प्रमाण है।

1. धर्म संग्रह श्रावकाचार – 2/139
मिथ्यादृष्टिरभव्योप्यसंज्ञी कोपि न विद्यते।
यश्चानध्यवसायोपि यः संदिग्धो विपर्ययः।।139।।

पूर्व वेदियों के समान यह वेदी भी 4 गोपुरद्वारों से युक्त है। गोपुरद्वार भी 100-100 तोरण, नव निधि, अष्ट मंगल द्रव्य, द्वारपाल और पुतलियों सहित धूपघटों से युक्त हैं। ये चारों गोपुर-द्वार मरकत-मणिमय हैं तथा यहाँ यक्ष (व्यंतर) जातीय देव, द्वारपाल हैं।

विशेष यह कि इस वेदी के केवल 4 महावीथियों वाले मात्र 4 द्वार ही नहीं हैं; अपितु इन 4 द्वारों के अतिरिक्त 12 सभाओं के 12 द्वार और भी हैं - इसप्रकार पाँचवीं वेदी में कुल 16 द्वार हैं। इन द्वारों के मध्य में सीढ़ियाँ भी स्थित हैं, जो पहली पीठ को स्पर्श करती हैं। इन्हीं सीढ़ियों पर से चढ़-उतरकर मनुष्यादि पहली पीठ और 12 सभाओं में प्रवेश करते हैं।

प्रश्न – इन कोठों के ऊपर मण्डप है और सामने वेदी है तब इनके पीछे 3 पीठ, गंधकुटी, सिंहासन और सिंहासन पर विराजमान तीर्थंकर देव के दर्शन कैसे होते हैं?

उत्तर – इन 12 कोठों के ऊपर स्फटिकमणि से निर्मित मण्डप और सामने स्फटिकमणि से ही निर्मित वेदी है तथा स्फटिकमणि पारदर्शी होती है; अतः मण्डप और वेदी के होते हुए भी उनके पीछे स्थित 3 पीठ, गंधकुटी, सिंहासन और सिंहासन पर विराजमान तीर्थंकर देव आदि के दर्शन हो जाते हैं।

इसप्रकार यह स्फटिक-मणिमय पाँचवीं वेदी अनेक द्वारों से युक्त होने से अत्यन्त मनोहर दिखलाई देती है। चौथा कोट + आठवीं भूमि + पाँचवीं वेदी (166.66+1666+166.66 = 1999.32 धनुष) तीनों ही 1 कोस (2000 धनुष) प्रमाण क्षेत्र में स्थित हैं।

पहली पीठ

पाँचवीं वेदी के बाद पीठ आती है। इन तीन पीठों में सबसे नीचे की पीठ पहली पीठ है। पहली पीठ श्रीमण्डप भूमि के मध्य में स्थित है।

श्रीमण्डप भूमि 4 कोस विस्तार वाली है। उन 4 कोसों में से एक-एक कोस दोनों तरफ छोड़कर बीच में 2 कोस विस्तारवाली यह पहली पीठ स्थित है। ''यह पीठ वैडूर्यमणि से बनी हुई है। 4000 धनुष (2 कोस) विस्तृत है तथा 8 धनुष ऊँची है। चूड़ी के समान गोल है।''[1] ''इसकी परिधि इसके विस्तार से तिगुणी अर्थात् 12000 धनुष (6 कोस) प्रमाण है।''[2] **(पीठ का चित्र पृष्ठ 197 पर देखें।)**

''पहली पीठ चढ़ने के लिए 16 स्थानों पर 16-16 सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। 4 महावीथियों में और 12 सभाओं के 16 स्थानों में सीढ़ियाँ हैं।''[3]

पहली पीठ की मेखला का विस्तार 750 धनुष है।

प्रश्न – मेखला किसे कहते हैं?

उत्तर – पहली पीठ के ऊपर दूसरी पीठ है। उस दूसरी पीठ को छोड़कर शेष स्थान को मेखला कहते हैं।

''इसी मेखला पर मनुष्यादि प्रदक्षिणा देते हैं। वहाँ पूजन के द्रव्य रखे होते हैं, उनसे पूजन करते हैं। अष्ट मंगल द्रव्य और चारों दिशाओं में एक-एक यक्षेन्द्र अपने सिर पर धर्मचक्र लिए हुए खड़े होते हैं। धर्म चक्र 1000 आरों से युक्त होते हैं।''[4] ''यह पीठ कुलाचल के शिखरों के समान दिखलाई देती है।''[5]

मनुष्यादि चार महावीथियों के मार्ग से इस पहली पीठ पर चढ़कर 3 प्रदक्षिणा, पूजनादि करके कोठों की सीढ़ियों के द्वारा अपने-अपने योग्य कोठे में जाकर बैठ जाते हैं।

1. तिलोय पण्णत्ति - 4/865, 867
2. तिलोय पण्णत्ति - 4/869
3. तिलोय पण्णत्ति - 4/866
4. तिलोय पण्णत्ति -4/ 873, 874
5. आदिपुराण - 22/290

इसप्रकार पूजन के द्रव्य, अष्ट मंगल द्रव्य तथा धर्मचक्र से युक्त यह वैडूर्यमणिमय पहली पीठ अत्यधिक सुशोभित होती है।

दूसरी पीठ

पहली पीठ के ऊपर यह दूसरी पीठ स्थित है। जिसप्रकार श्री मण्डप भूमि के मध्य में पहली पीठ स्थित है; उसीप्रकार पहली पीठ के मध्य में यह दूसरी पीठ स्थित है।

पहली पीठ 4000 धनुष विस्तार वाली है। उसके दोनों तरफ 750-750 धनुष जगह छोड़कर मध्य में 2500 धनुष विस्तार वाली दूसरी पीठ है। इसके विस्तार से तिगुणी विस्तार वाली इसकी परिधि है अर्थात् 7,500 धनुष प्रमाण विस्तृत परिधि है।

दूसरी पीठ स्वर्ण से निर्मित तथा पंच वर्णी रत्नों वाली सीढ़ियों से युक्त है। इस पीठ पर धूपघट, नव निधि, पूजन द्रव्य तथा अष्ट मंगल द्रव्य होते हैं।

इस पीठ पर मणिमय स्तम्भ भी होते हैं। जो 8 प्रकार की ध्वजाओं से युक्त होते हैं। वे ध्वजाएँ इसप्रकार हैं - 1. चक्र, 2. हाथी, 3. बैल, 4. कमल, 5. वस्त्र, 6. सिंह, 7. गरुड़, 8 माला।

इसप्रकार स्वर्णमय दूसरी पीठिका 750 धनुष प्रमाण विस्तार वाली मेखला, धूपघट, नवनिधि, पूजन के द्रव्य तथा अष्ट मंगल द्रव्यों से अत्यन्त मनोहर दिखलाई देती है।

तीसरी पीठ

दूसरी पीठ के ऊपर यह तीसरी पीठ स्थित है। जिसप्रकार पहली पीठ के मध्य में दूसरी पीठ स्थित है; उसीप्रकार दूसरी पीठ के मध्य में यह तीसरी पीठ स्थित है।

दूसरी पीठ 2500 धनुष प्रमाण विस्तार वाली है। उसके दोनों तरफ 750-750 धनुष जगह छोड़कर मध्य में 1000 धनुष विस्तार वाली तीसरी पीठ है।

अनेक रत्नमय तीसरी पीठ की मेखला 200 धनुष विस्तार वाली है। पीठ के विस्तार से तिगुणी विस्तार वाली इसकी परिधि है अर्थात् 3000 धनुष प्रमाण विस्तृत परिधि है। सूर्य मण्डल के समान गोल तथा चारों दिशाओं में रत्नमयी और सुखकर स्पर्श वाली 8-8 सीढ़ियों से युक्त यह तीसरी पीठ अत्यन्त मनोहर दिखलाई देती है।

गंधकुटी

तीसरी पीठ के ऊपर यह गंधकुटी स्थित है। जिसप्रकार दूसरी पीठ के मध्य में तीसरी पीठ स्थित है; उसीप्रकार तीसरी पीठ के मध्य में यह गंधकुटी स्थित है और "जिसप्रकार सुमेरु पर्वत पर नंदन वन, सौमनस वन और पांडुक वन के ऊपर चूलिका स्थित है; उसीप्रकार तीनों पीठों के ऊपर यह गंधकुटी स्थित है।"[1] **(गंधकुटी का चित्र पृष्ठ 200 पर देखें।)**

तीसरी पीठ 1000 धनुष प्रमाण विस्तार वाली है। उसके दोनों तरफ 200-200 धनुष जगह छोड़कर मध्य में "600 धनुष विस्तृत और 900 धनुष ऊँची गंधकुटी होती है।"[2]

"यह गंधकुटी गोशीर, मलय चन्दन, कालागुरु इत्यादि धूपों की गंध से व्याप्त होती है; अतः वह गंधकुटी कहलाती है।"[3] तथा "चमर, किंकिणी, वंदन माला, हारादि से रमणीय होती है; चारों दिशाओं में बड़े-बड़े मोतियों की झालरें लटकती हैं। प्रज्वलित रत्नों के दीपकों से सहित तथा नाचती हुई विचित्र ध्वजाओं की पंक्ति से संयुक्त होने से यह 'स्वर्णमयी गंधकुटी'[4] और भी रमणीय दिखलाई देती है।"[5]

1. आदिपुराण - 23/8, 2. तिलोय पण्णत्ति - 4/889, 891
3. तिलोय पण्णत्ति - 4/887 4. आदिपुराण - 23/14 5. तिलोय पण्णत्ति - 4/888

सिंहासन

गंधकुटी के मध्य में पादपीठ सहित उत्तम स्फटिक मणियों से निर्मित तथा घंटों आदि के समूह से रमणीय सिंहासन होता है।

''रत्नों से खचित सिंहासन की ऊँचाई तीर्थंकरों के शरीर के योग्य ही होती है।''[1] ''आदिपुराण में सिंहासन की ऊँचाई 1 धनुष प्रमाण बतलाई है''[2] और ''तत्त्वार्थसार में सिंहासन की ऊँचाई 1 योजन बतलाई है। स्फटिक मणिमय सिंहासन के पायों के स्थान पर सिंह स्थित होते हैं; अतः इसे सिंहासन कहते हैं।''[3]

''इस सिंहासन के बीच में अत्यन्त कोमल, पवित्र और जिसकी उपमा के लायक कोई नहीं है, ऐसा 1000 दल वाला तप्त सुवर्ण के समान लाल कमल है। इसके बीच की कर्णिका से 4 अंगुल ऊपर अंतरिक्ष आकाश में पद्मासन अवस्था में तीर्थंकर देव विराजमान होते हैं।''[4]

प्रश्न – पद्मपुराण के तीसरे अध्याय के 41वें श्लोक में 'समवशरण में भगवान के 34 सिंहासन होते हैं' ऐसा कहा है तब फिर तीर्थंकर देव किस सिंहासन पर विराजमान होते हैं और उन 34 सिंहासनों की रचना किस प्रकार होती है? **(अष्ट प्रातिहार्य का चित्र पृष्ठ 199 पर देखें।)**

उत्तर – यहाँ जो कहा गया है कि 'समवशरण में भगवान के 34 सिंहासन होते हैं' ये किसी एक तीर्थंकर के समवशरण की बात नहीं है, अपितु ये 34 तीर्थंकरों के 34 समवशरण में 34 सिंहासनों की बात है।

प्रश्न – 34 तीर्थंकर कैसे हो सकते हैं, क्योंकि तीर्थंकर 24 ही होते हैं।

1. तिलोय पण्णत्ति – 4/894, 2. आदिपुराण 22/311
3. तत्त्वार्थसार, पृष्ठ-75 4. धर्मसंग्रह श्रावकाचार – 2/96,97

उत्तर – हाँ, आपकी बात एकदम सही है, एक क्षेत्र की एक चौबीसी में 24 ही तीर्थंकर होते हैं, परन्तु यहाँ एक क्षेत्र संबंधी बात नहीं है। यहाँ 34 क्षेत्रों संबंधी बात है। जम्बूद्वीप के 32 विदेह क्षेत्र, 1 भरत क्षेत्र और 1 ऐरावत क्षेत्र – इसप्रकार कुल 34 क्षेत्रों में 34 तीर्थंकरों के 34 समवशरण में 34 सिंहासन होते हैं। इसे ही पद्मपुराण में संक्षेप में कहा कि 'समवशरण में भगवान के 34 सिंहासन दिखाई देते हैं।

प्रश्न – तीर्थंकर परमात्मा का मूल परमौदारिक दिव्य शरीर, कौन-सी दिशा में विराजमान होता है?

उत्तर – तीर्थंकर परमात्मा का मूल परमौदारिक दिव्य शरीर 'पूर्व' अथवा 'उत्तर' दिशा में होता है। इसी कारण जिनमन्दिरों में भी प्रतिमाएँ पूर्व अथवा उत्तर मुखी ही होती हैं।

तीर्थंकर देव का अतिशय अथवा भव्य जीवों के भाग्य से तीर्थंकर देव का मूल परमौदारिक दिव्य देह पूर्व अथवा उत्तर दिशा में होते हुए भी सर्व दिशाओं में दिखाई देता है। यहाँ 'सर्वदिशा' से मात्र पूर्वादि चार दिशाओं का ही ग्रहण नहीं करना चाहिए; अपितु सभी दिशाएँ लेना चाहिए अर्थात् 12 सभाओं में बैठे हुए प्रत्येक जीव को तीर्थंकर देव अपने सामने ही विराजमान दिखाई देते हैं; इसलिए तीर्थंकर देव सर्व दिशाओं में दिखाई देते हैं – ऐसा कहा।

इसप्रकार अष्ट प्रातिहार्यों में **सिंहासन,** दूसरा प्रातिहार्य है।

भामण्डल

तीर्थंकर भगवान के मुख के पीछे भामण्डल (प्रभामंडल, आभामण्डल) होता है। यह तीर्थंकर देव के शरीर की प्रभा (कान्ति) मात्र ही होती है, पृथक् से कोई रचना नहीं होती है। तीर्थंकर परमात्मा

के शरीर की प्रभा होने से इसे 'प्रभामण्डल' भी कहते हैं। भगवान की यह प्रभा ही संपूर्ण समवशरण को व्याप्त करती है।

इस प्रभामण्डल में देव, मनुष्य और तिर्यंचों को अपने 7-7 भव दिखलाई देते हैं - 3 भूत, 1 वर्तमान और 3 भविष्य के भव दिखलाई देते हैं।

इसप्रकार अष्ट प्रातिहार्यों में **भामण्डल,** तीसरा प्रातिहार्य है।

अशोक वृक्ष

श्रीमण्डप भूमि के मध्य में तीर्थंकर देव के पीछे अशोक वृक्ष होता है। जिस वृक्ष के नीचे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, उस वृक्ष को ही अशोक वृक्ष कहते हैं। आदिनाथ भगवान को वटवृक्ष के नीचे केवलज्ञान हुआ। वह वटवृक्ष ही अशोक वृक्ष है। इसीप्रकार अन्य भगवन्तों के ज्ञानवृक्ष हैं, वे ही शोक निवारक अतिशय से युक्त होने से अशोक वृक्ष कहे जाते हैं।

रत्नमय अशोक वृक्ष के पत्र मरकतमणि से निर्मित हरित वर्णी होते हैं। उसमें अनेक प्रकार के मणिमय पुष्प लगे होते हैं। श्रीमण्डप भूमि के अन्त तक 1 योजन में इसकी स्वर्णमय शाखाएँ फैली होती हैं तथा सभी दिशाओं को ढक लेती हैं। सबके शोकों को नष्ट करने वाला होने से अशोक वृक्ष कहलाता है। पवन के द्वारा मन्द-मन्द हिलती हुई इसकी शाखाएँ नृत्य करते हुए के समान प्रतीत होती हैं।

इसप्रकार अष्ट प्रातिहार्यों में **अशोक वृक्ष,** चौथा प्रातिहार्य है।

3 छत्र

तीर्थंकर देव के ऊपर आकाश में, बिना किसी आधार के अधर में ही 3 छत्र सुशोभित होते हैं। ये छत्र अपनी कान्ति से सूर्य और चन्द्रमा - दोनों की प्रभा का तिरस्कार करते हैं और मोतियों की झालरों से युक्त तथा इन्द्रनील मणि[1] से जड़ित होते हैं।

1. आदिपुराण - 23/45

इसप्रकार अष्ट प्रातिहार्यों में **छत्र,** पाँचवाँ प्रातिहार्य है।

64 चँवर

तीर्थंकर देव के चारों ओर 64 चँवर होते हैं। यक्ष (व्यंतर) इन 64 चँवरों को ढोरते हैं। ये चँवर क्षीर सागर की लहरों के समान ही दिखाई देते हैं, मानों अमृत के खण्डों से ही बने हों, चन्द्रमा की किरणों का ही समूह हो, जिनेन्द्र देव की सेवा के लिए गंगा ही चँवर के रूप में यहाँ उपस्थित हुई है। इसप्रकार समवशरण में तीर्थंकर देव के चारों ओर 64 चँवर, देवों द्वारा ढोरे जाते हैं।

इसप्रकार अष्ट प्रातिहार्यों में **चँवर,** छठवाँ प्रातिहार्य है।

दुंदुभि

देवों द्वारा वाद्य यंत्रों में से एक दुँदुभि बजाई जाती है। दुँदुभि के साथ पणव, तुणव, कालह, शंख और नगाड़े आदि अनेक वाद्य यंत्र भी होते हैं। जो आकाश में मेघों के समान दिखलाई देते हैं। मेघों के समान मधुर शब्द सभी जगह व्याप्त होते हैं। भगवान ने मोह को जीत लिया है - इसी का नाद करती हुई सुशोभित होती हैं।

इसप्रकार अष्ट प्रातिहार्यों में **दुंदुभि,** सातवाँ प्रातिहार्य है।

धन्य नैन तुम दरस लखि, धनि मस्तक लगि पाँय।
श्रवन धन्य वाणी सुनै, रसना धनि गुन गाय।। १९।।

धन्य दिवस धनिया या घरी, धन्य भाग मुझ आज।
जनम सफल अब ही भयौ, वंदत श्री महाराज।।२०।।

- बुधजन सतसई, देवानुराग शतक, पृष्ठ-१२३

दिव्यध्वनि

अष्ट प्रातिहार्यों में दिव्यध्वनि अन्तिम प्रातिहार्य है। वास्तव में प्रातिहार्यों का कोई क्रम नहीं है तथापि प्रतिपादन करने में क्रम का होना अनिवार्य होता है; अतः यहाँ जो क्रम रखा गया है, वह रचनाओं के क्रमानुसार ही रखा गया है।

प्रश्न – दिव्य-ध्वनि को अंत में क्यों रखा? क्योंकि दिव्यध्वनि तो भगवान के मुख से खिरती है; अतः दिव्यध्वनि का क्रम तो सिंहासन और भामण्डल के मध्य में होना चाहिए था?

उत्तर – दिव्यध्वनि को अंत में रखने के दो कारण हैं –

पहला – समवशरण में दिव्यध्वनि कोई रचना विशेष नहीं है, जिसे दर्शाया जा सके; अतः अंत में रखा है।

दूसरा – दिव्यध्वनि के संबंध में विस्तार से चर्चा करनी है; अतः इसे अन्त में रखा है।

तीर्थंकर की दिव्य वाणी को ही दिव्यध्वनि कहते हैं। यहाँ एक **प्रश्न** हो सकता है कि भगवान की वाणी को दिव्यध्वनि ही क्यों कहते है, दिव्यवाणी क्यों नहीं? इसका **उत्तर** देते हुए धवलाकार इसप्रकार कहते हैं –

''**तथा च कथं तस्य ध्वनित्वमिति चेन्न, एतद्भाषारूपमेवेति निर्देष्टुमशक्यत्वतः तस्य ध्वनित्वसिद्धेः।**[1]

प्रश्न – जबकि वह अनेक भाषारूप है तो उसे ध्वनिरूप कैसे माना जा सकता है?

उत्तर – नहीं, क्योंकि केवली के वचन इसी भाषारूप ही हैं – ऐसा निर्देश नहीं किया जा सकता है, इसलिए उनके वचन ध्वनिरूप हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है।''

1. धवला पुस्तक-1, खण्ड-1, भाग-1, सूत्र-50, पृष्ठ-284

इसलिए तीर्थंकर देव की वाणी को ध्वनि कहते हैं, परन्तु उस ध्वनि को दिव्य क्यों कहा जाता है?

तीर्थंकर देव की वाणी को दिव्य कहने के अनेक कारण हैं; यथा – (1) तीर्थंकर देव हितोपदेशी के साथ-साथ वीतरागी और सर्वज्ञ भी होते हैं तथा सर्वज्ञपना केवलज्ञान होने पर ही प्रकट होता है और प्रवचनसार में केवलज्ञान को दिव्यज्ञान कहा है –

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलइदं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति।।39।।
पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या हो गई हैं नष्ट जो।
फिर ज्ञान की क्या दिव्यता यदि ज्ञात होवें नहीं वो।।39।।

अर्थात् यदि अनुत्पन्न पर्याय तथा नष्ट पर्याय केवलज्ञान में प्रत्यक्ष नहीं हों, तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा?

अतः केवलज्ञान दिव्यज्ञान है। ऐसे दिव्य ज्ञान के साथ जो वाणी निकलेगी, वह वाणी भी दिव्य ही होगी; अतः तीर्थंकर देव की वाणी को दिव्य-ध्वनि कहा जाता है।

2. तीर्थंकर देव की वाणी निरीह अर्थात् बिना इच्छा के खिरती है; अतः इस वाणी (ध्वनि) को दिव्यध्वनि कहते हैं; परन्तु यहाँ एक **प्रश्न** होना संभव है कि बिना इच्छा के दिव्यध्वनि (वाणी) का खिरना कैसे संभव हो सकता है? इसका समाधान करते हुए अष्ट-सहस्रीकार[1] आचार्य विद्यानन्दी स्वामी इसप्रकार लिखते हैं कि –

प्रश्न – इच्छामन्तरेण वाक्प्रवृत्तिर्न संभवति?

उत्तर – न च 'इच्छामन्तरेण वाक्प्रवृत्तिर्न संभवति' इति वाच्यं नियमाभावात्। नियमाभ्युपगमे सुषुप्त्यादावपि निरभिप्रायप्रवृत्तिर्न स्यात्। न हि सुषुप्तौ गोत्रस्खलनादौ वाग्व्यवहारादिहेतुरिच्छास्ति...

1. अष्टसहस्री, पृ.-73

चैतन्यकरणपाटवयोरेव साधकतमत्वम्।.... (इच्छा वाग्प्रवृत्तिर्हेतुर्न) तदुक्तम् –

विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषतः।
वाञ्छन्तो न च वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः।।

अर्थ – प्रश्न – 'इच्छा के बिना वचन प्रवृत्ति नहीं होती है?

उत्तर – 'ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इसप्रकार के नियम का अभाव है। यदि ऐसा नियम स्वीकार करता है तो सुषुप्ति आदि में बिना अभिप्राय के प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। सुषुप्ति में या गोत्र स्खलन आदि में वचन व्यवहार की हमें इच्छा नहीं है। चैतन्य और इन्द्रियों की पटुता ही उसमें प्रमुख कारण है; इच्छा, वचन-प्रवृत्ति में हेतु नहीं है।

विज्ञान के गुण और दोष से वचन-प्रवृत्ति में गुण और दोष होते हैं। इच्छा रखते हुए भी मन्दबुद्धि वाले जीव शास्त्रों के वक्ता नहीं होते हैं।

न्यायविनिश्चय में भी आचार्य वादिराज सूरि इसप्रकार कहते हैं –

विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिर्जातु वीक्ष्यते।
वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः।।185।।

अर्थ – कभी विवक्षा (बोलने की इच्छा) के बिना भी वचन की प्रवृत्ति देखी जाती है। इच्छा रखते हुए भी मन्दबुद्धि वाले शास्त्रों के वक्ता नहीं हो पाते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि वाणी तो बिना इच्छा के ही होती है और तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि बिना इच्छा और भव्य जीवों के भाग्य से ही खिरती है। पण्डित दौलतरामजी भी देव स्तुति में कहते हैं –

भवि भागन वच जोगे वशाय।
तुम ध्वनि ह्वै सुनी विभ्रम नशाय।।

प्रश्न – यदि दिव्यध्वनि निरीह है, तो सदा काल ही खिरती होगी?

उत्तर – नहीं, दिव्यध्वनि निरीह होने पर भी सदा काल नहीं खिरती हैं। दिव्यध्वनि मात्र संधिकाल (सामायिक काल) में ही खिरती है। संधिकाल में ही सामायिक की जाती है।

प्रश्न – संधिकाल में सामायिक क्यों की जाती है?

उत्तर – संधिकाल में दिव्यध्वनि खिरती है। इस काल में सामायिक करने से मन में उत्पन्न तीव्र जिज्ञासाओं का सहज ही समाधान हो जाता है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से संधिकाल में सामायिक की जाती है।

प्रश्न – संधिकाल किसे कहते हैं?

उत्तर – दो कालों के मिलने के काल को संधिकाल कहते हैं। ऐसे संधिकाल एक दिवस में 4 बार आते हैं। जैसे – (लगभग समान समय वाले दिन-रात में) – प्रातः 6 बजे, दोपहर 12 बजे, सायं 6 बजे, रात्रि 12 बजे।

इसप्रकार एक दिवस में कुल 4 संधिकाल होते हैं।

प्रश्न – एक संधिकाल में कितने समय तक दिव्यध्वनि खिरती है?

उत्तर – आगम में इसके भिन्न-भिन्न प्रमाण मिलते हैं। यथा –

1. 1 दिवस में 6-6 घड़ी 4 बार खिरती है। 1 घड़ी में 24 मिनिट होते हैं तथा 6 घड़ी में 144 मिनिट (2 घण्टे 24 मिनिट) होते हैं इसप्रकार 4 बार में 576 मिनिट (9 घण्टे 36 मिनिट) होते हैं अर्थात् 1 दिवस में कुल 9 घण्टे 36 मिनिट दिव्यध्वनि खिरती है।[1]

2. 1 दिवस में 6-6 घड़ी 3 बार खिरती है अर्थात् प्रातः, दोपहर और सायं – इन तीन संधि कालों में 6-6 घड़ी खिरती है। इसप्रकार एक दिवस में 7 घंटे 12 मिनिट दिव्यध्वनि खिरती है।[2]

1. गोम्मटसार जीवकाण्ड (जीवतत्त्व प्रदीपिका टीका) गाथा-356, पृष्ठ – 761
2. कषायपाहुड़, पुस्तक-1, भाग-1, प्रकरण-96, पृष्ठ-126

3. 1 दिवस में 9-9 घड़ी 3 बार खिरती है अर्थात् प्रातः दोपहर और सायं – इन तीन संधि कालों में 9-9 घड़ी खिरती है। इसप्रकार एक दिवस में 10 घंटे 48 मिनिट दिव्यध्वनि खिरती है।[1]

जिसप्रकार संधिकालों में सामायिक की जाती है। जैसे प्रातः 6 बजे संधिकाल से आधे घंटे पूर्व प्रारंभ करके (कम से कम 1 घंटे) 6 बजे के आधे घंटे बाद तक की जाती है। (5: 30-6:30); उसीप्रकार दिव्यध्वनि भी 6 बजे के पूर्व 3 घड़ी और 6 बजे के बाद 3 घड़ी पर्यन्त खिरती है। इसप्रकार 1 संधिकाल में 6 घड़ी दिव्यध्वनि खिरती है।

इसप्रकार केवलज्ञान होने पर तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि समवशरण में 1 योजन विस्तृत श्रीमण्डप भूमि के मध्य में खिरती है तथा भव्य जीव इसका लाभ लेते हैं। जिस दिन से भगवान की दिव्यध्वनि खिरना प्रारंभ होती है, उसी दिन से तीर्थंकर देव का शासनकाल भी प्रारंभ होता है।

3. तिलोय पण्णत्ति ग्रंथ के पहले अधिकार की 62वीं गाथा में इसप्रकार कहा है कि –

एदासिं भासाणं तालुवदंतोट्ठकंठवावारं।
परिहरियं एक्काकालं भव्यजणाणं दकरभासो।।62।।

यह ध्वनि तालु, दन्त, ओष्ठ तथा कण्ठ के हलन-चलन रूप व्यापार से रहित होने पर भी एक काल में भव्य जीवों को वस्तुस्वरूप दर्शाती है; अतः उसे दिव्यध्वनि कहते हैं।

प्रश्न – तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि मुख से खिरती है – ऐसा क्यों कहा जाता है?

1. तिलोय पण्णत्ति – 4/903, 904

उत्तर – यह विषय एक विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है कि तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि 'मुख से खिरती है' या 'सर्वांग से'?

लोक-प्रचलित कथनानुसार तो यही प्रसिद्ध है कि दिव्यध्वनि सर्वांग से खिरती है; परन्तु इस विषय को आगम के आलोक में देखना भी अत्यावश्यक है; क्योंकि आगम से देखने पर परिणाम कुछ और ही निकलकर सामने आता है। सर्वप्रथम जिनागम के आलोक में दिव्यध्वनि मुख से खिरती है; इस विषय पर दृष्टिपात करते हैं –

धवला पुस्तक – 9, पृष्ठ 62 में मुख से खिरने का कथन आया है, जो इसप्रकार है –

''एदेहिंतो संखेज्जगुणभासासंभरिदतित्थयरवयण[1]विणिग्गयज्झुणि।

अर्थ – इनसे (चार अक्षौहिणी अक्षर-अनक्षर भाषाओं से) संख्यातगुणी भाषाओं से भरी हुई तीर्थंकर के **मुख** से निकली दिव्यध्वनि....।''

''ण बीजबुद्धीये अभावो, ताए विणा अवगयतित्थयरबयण विणिग्गय अक्खराणक्खरप्पयबहुलिंगय बीजपदाणं गणहरदेवाणं दुवालसंगा भावप्प संगादो।''[2]

अर्थ – बीजबुद्धि का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि उसके बिना गणधर देवों को तीर्थंकर **के मुख से** निकले हुए अक्षर और अनक्षर स्वरूप बीजपदों का ज्ञान न होने से द्वादशांग के अभाव का प्रसंग आयेगा।''

राजवार्तिक में अकलंक देव भी इसी का समर्थन करते हुए कहते हैं कि –

1. वयण-मुख
2. धवला पुस्तक – 9, पृष्ठ-58

''सकलज्ञानावरणसंक्षयाविर्भूतात्तीन्द्रियकेवलज्ञानः रसनोपष्टम्भ मात्रादेव वक्तृत्वेन परिणतः सकलान् श्रुतविषयान–र्थानुपदिशति।''[1]

अर्थ – सकल ज्ञानावरण के क्षय से उत्पन्न अतीन्द्रिय केवलज्ञान **जिह्वा इन्द्रिय के आश्रय मात्र** से वक्तृत्व रूप परिणत होकर सकलश्रुत विषयक अर्थों के उपदेश करता है।

अन्य आगम प्रमाण –

महापुराण में आचार्य जिनसेन भी इसीप्रकार लिखते हैं कि –

दिव्यमहाध्वनिरस्य मुखाब्जान्मेघरवानुकृतिर्निरगच्छत्।
भव्यमनोगतमोहतमोघ्न अद्युतदेष यथैव तमोऽरिः।।69।।[2]

अर्थ – भगवान के **मुखरूपी कमल** से बादलों की गर्जना का अनुकरण करने वाली अतिशय युक्त महादिव्यध्वनि निकल रही थी और वह भव्य जीवों के मन में स्थित मोहरूपी अंधकार को नष्ट करती हुई सूर्य के समान सुशोभित हो रही थी।।69।।

आगे पुनः लिखते हैं कि –

स्फुरद्गिरिगुहोद्भुतप्रतिश्रुद् ध्वनिसंनिभः।
प्रस्पष्टवर्णो निरगाद् ध्वनिः स्वायम्भुवान्मुखात्।।83।।[3]

अर्थ – जिसमें सब अक्षर स्पष्ट हैं ऐसी वह दिव्यध्वनि भगवान के **मुख से** इस प्रकार निकल रही थी जिस प्रकार पर्वत की गुफा के अग्रभाग से प्रतिध्वनि निकलती है।।83।।

1. राजवार्तिक अध्याय–2, सूत्र–19
2. महापुराण, 23/69
3. महापुराण, 24/83

अपरिस्पन्दनताल्व दिर स्पष्टदशन दयुतेः।
स्वयंभुवो मुखंभोजाज्जाता चित्र सरस्वती।।184।।

अर्थ – तालु, दांत, ओष्ठ तथा कंठ के हलन–चलन रूप व्यापार के बिना **मुख** से ही खिरती है।

अर्थ – श्रमण अर्थात् वीतरागी देव के **मुख** से निकले हुए ....

वह जिनेन्द्र भगवान का वचन गंभीर है, मीठा है, अत्यन्त मनोहारी है, दोष रहित है, हितकारी है, कण्ठ, ओष्ट आदि वचन के कारणों से रहित है, वायु के रोकने से प्रकट नहीं है.....।

महापुराण – 1/84
पंचास्तिकाय संग्रह गाथा–2
पंचास्तिकाय संग्रह गाथा–2 (तात्पर्यवृत्ति टीका)
पद्मपुराण – 2/195
पंचास्तिकाय संग्रह गाथा–1 (तात्पर्यवृत्ति टीका)
नियमसार श्लोक –2
नियमसार गाथा–8
गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्व प्रदीपिका टीका, गाथा–356
धवला पुस्तक–3, पृष्ठ–26
धवला पुस्तक–5, पृष्ठ–195
धवला पुस्तक–6, पृष्ठ–449
धवला पुस्तक–7, पृष्ठ–148
पद्म चरित्र–2/195
हरिवंशपुराण – 58/3
ज्ञानार्णव–38/104
पं. बनारसीदासजी
पं. दौलतरामजी
पं. भैया भगवतीदासजी
पं. जयचन्द्रजी छाबड़ा
आ. क्षमाश्री माताजी इत्यादि विद्वानों ने भी भजन, पूजनादि में दिव्यध्वनि का स्रव स्थान **मुख** को ही कहा है।

इसप्रकार अनेक आचार्यों ने दिव्यध्वनि निकलने का स्थान **मुख** ही कहा है।

प्रश्न – यहाँ कोई कह सकता है कि यह वर्णन तो आलंकारिक वर्णन है; इसलिए दिव्यध्वनि सर्वांग से ही खिरती है, मुख से नहीं।

उत्तर – आलंकारिक वर्णन गाथा, श्लोक में हो सकता है, परन्तु मंत्रादि में तो आलंकारिक वर्णन होता नहीं है। मंत्र .....

प्रश्न – परन्तु कुछ लोग कहते हैं कि तिलोयपण्णत्ति आदि[1] ग्रंथों में 'दिव्यध्वनि तालु, दन्त, ओष्ठ तथा कण्ठ के हलन-चलन रूप व्यापार से रहित होती है।' ऐसा कहा है इसका अर्थ तो यही हुआ कि दिव्यध्वनि सर्वांग से खिरती हैं।

''यह ध्वनि तालु, दन्त, ओष्ठ तथा कण्ठ के हलन-चलन रूप व्यापार से रहित होती है।'' अर्थात् सर्वांग से ही खिरती है।

उत्तर – नहीं, मुख से खिरती हुई दिव्यध्वनि में ओष्ठादि का व्यापार नहीं दिखने से ऐसा प्रतीत होता है कि दिव्यध्वनि सर्वांग से खिरती है। इन छद्मस्थ जीवों के प्रतीत होने वाले इस आभास का निराकरण करते हुए आचार्य जिनसेन स्वामी (प्रथम) आदिपुराण के पहले अध्याय के 184वें श्लोक में लिखते हैं –

अपरिस्पन्दनताल्व दिर स्पष्टदशन दयुतेः।
स्वयंभुवो मुखंभोजाज्जाता चित्र सरस्वती।।184।।

1. • हरिवंश पुराण – 2/133, 9/224, 56/117
   • योग का स्वरूप व भेद-प्रभेद – 45
   • धर्म संग्रह श्रावकाचार – 2/100
   • तिलोय पण्णत्ति

   एदासिं भासाणं तालुवदंतोट्ठकंठवावारं।
   परिहरियं एक्ककालं भव्यजणाणं दकरभासो।।62।।

अर्थ – तालु, दाँत, ओष्ठ तथा कंठ के हलन-चलन रूप व्यापार के बिना **मुख** से ही खिरती है।

इस एक ही श्लोक में दोनों बात कही हैं कि तालु आदि के व्यापार बिना मुख से ही खिरती है।

दिव्यध्वनि सर्वांग से खिरती है, ऐसा स्पष्ट उल्लेख किसी भी आचार्य के द्वारा नहीं किया गया है। दिव्यध्वनि सर्वांग से खिरती है इसका सर्वप्रथम उल्लेख पण्डित मेधावीजी ने अपने 'धर्म संग्रह श्रावकाचार' ग्रंथ में किया है। पण्डित मेधावीजी ने समवशरण का जो वर्णन किया है, वह विष्णुसेन आचार्य विरचित समवशरण स्तोत्र के आधार से किया है; परन्तु आचार्य विष्णुसेन ने समवशरण स्तोत्र में कहीं भी सर्वांग का उल्लेख नहीं किया है; अतः संभावित, दिव्यध्वनि सर्वांग से खिरती है, इसका प्रचलन पण्डित मेधावीजी के समय से ही हुआ होगा तथा पं. मेधावीजी के पश्चात् तो सर्वांग से अनेक[1] उल्लेख प्राप्त होते हैं।

निष्कर्ष यही है कि – प्रथम तो हमें आगम के अनुसार ही बात को मानना और चर्चा-वार्ता आदि करना चाहिए कि तालु आदि के व्यापार बिना मुख से दिव्यध्वनि खिरती है तथापि छद्मस्थ जीवों को अपने अल्पज्ञान के अनुसार जैसा दिखाई देता है, वैसा ही मान लेते हैं। यहाँ दिव्यध्वनि खिरते समय ओष्ठादि हिलते हुए नहीं दिखते हैं; अतः ऐसा प्रतीत होता है कि दिव्यध्वनि सर्वांग से खिरती है।

दूसरी बात यह है कि गुरु परम्परा से जो कथन प्राप्त होते हैं वह भी प्रामाणिक ही होते हैं। हो सकता है कि जो ग्रंथ उनके समय में उपलब्ध

1. मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार -1, पृष्ठ-19
(सहज ही वैसे ही अघातिकर्मों के उदय से उनका शरीर रूप पुद्गल दिव्यध्वनि रूप परिणमित होता है।)

थे; परन्तु वर्तमान समय में वे लुप्त हो गये हों। जिनके आधार से गुरु परम्परा के माध्यम से वर्तमान में हमें कथन प्राप्त हुआ हो; इसलिए गुरु परम्परा को आधार बनाते हुए उनके कथन को स्वीकार करने में कोई भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए और मूल बात यह है कि दिव्यध्वनि मुख से खिरे या सर्वांग से इससे हमारा कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। हमारा प्रयोजन भगवान की बीजपद रूप दिव्यध्वनि को सुनने में ही सिद्ध होता है; इसलिए हमें अपने प्रयोजन को लक्ष्य में रखते हुए प्रयोजनभूत कथनों पर ही दृष्टि रखकर, आगम आधार से अन्य कथनों को स्वीकार करना चाहिए।

प्रश्न – आपकी बात सही है कि दिव्यध्वनि मुख से खिरे या सर्वांग से इससे हमारा कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, परन्तु दिव्यध्वनि किस भाषा में खिरती है, उससे तो हमारा प्रयोजन सिद्ध होता है, क्योंकि सुननी तो हमें ही है और दिव्यध्वनि होती तो ॐकारमयी है और आप बीजपद रूप कह रहे हैं?

उत्तर – नहीं भाई, दिव्यध्वनि मात्र ॐकारमयी नहीं होती है। अनेक बीजपद रूप ही होती है।

कषायपाहुड़ में कहा है कि –

''**अणंतत्थगब्भबीजपदघडियसरीरा...।**

जो अनन्त पदार्थों का वर्णन करती है, जिसका शरीर **बीजपदों** से गढ़ा गया है।''[1]

धवला पुस्तक 9, पृष्ठ 58 में भी दिव्यध्वनि को बीजपद वाली ही कहा है –

1. कषायपाहुड़ पुस्तक-1, भाग-1, प्रकरण-96, पृष्ठ-126

''समस्त पदार्थों का अनन्तवाँ भाग द्रव्यश्रुतज्ञान का विषय भले ही हो, किन्तु भाव श्रुतज्ञान का विषय समस्त पदार्थ हैं; क्योंकि ऐसा माने बिना तीर्थंकरों के वचनातिशय के अभाव का प्रसंग होगा। उनके वचन की सार्थकता नहीं बनती अर्थात् 'तीर्थंकरों का वचनातिशय (दिव्यध्वनि) **बीजपदों** रूप होता है और ऐसे बीजपदों को जानने वाली बीजबुद्धि ऋद्धि होती है।

धवलाकार वीरसेन आचार्य धवला पुस्तक 9, पृष्ठ 58 में इसप्रकार कहते हैं –

''**ण बीजबुद्धीए अभावो, ताए विणा अणवगयर्तित्थयरवयण विणिग्गयअक्खराणक्खरप्पयबहुलिंगालिंगियबीजपदाणं गणहर-देवाणं दुवालसंगा भावप्पसंगादो।**

अर्थ – बीजबुद्धि का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि उसके बिना गणधर देवों का तीर्थंकर के मुख से निकले हुए 'अक्षर और अनक्षर स्वरूप **बीजपदों** का ज्ञान न होने से द्वादशांग के अभाव का प्रसंग आएगा।''

प्रश्न – पर हमने तो अभी तक यही सुना था कि दिव्यध्वनि ॐकारमयी होती है?

उत्तर – हाँ, वर्तमान में सर्वत्र ही यही कथन प्रचलित है कि दिव्यध्वनि मात्र ॐकारमयी होती है; परन्तु यदि हम थोड़ा-सा आगम का आलोड़न करें, तो कुछ और ही निष्कर्ष निकलकर सामने आता है।

आचार्यों ने दिव्यध्वनि को मात्र ॐकारमयी नहीं कहा है, अपितु अनेक बीजपद स्वरूप ही दिव्यध्वनि को कहा है।

प्रश्न – तब सहज ही एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब आगम में आचार्य देवों ने दिव्यध्वनि को मात्र ॐकारमयी ही नहीं कहा है, तो यह परम्परा कैसे और कब से प्रचलित हुई है?

उत्तर – प्राचीन काल में वेदों के अध्येता बहुत अधिक होते थे; अतः छांदोग्योपनिषद् में वर्णित ॐकार की महिमा वर्तमान में बहुलता से की जाती है तथा छांदोग्योपनिषद् के दूसरे अधिकार में 'जिसप्रकार शंकुओं द्वारा सम्पूर्ण पत्ते व्याप्त रहते हैं, उसीप्रकार ॐकार के द्वारा सम्पूर्ण वाक् व्याप्त है। ॐकार ही सब कुछ है।'[1] ऐसा कहा है। इसी वर्णित विषय के कारण वर्तमान में उक्त परम्परा बहु प्रचलित हो गई है। दिव्यध्वनि को ॐकारमयी कहने की परम्परा प्रधानतया स्तुति साहित्य में प्रयुक्त हुई है। जैसे – पण्डित बनारसीदासजी ने अपने पद्यों में लिखा है –

'मुख ओंकार धुनि सुनि, अर्थ गणधर विचारै।'

तत्पश्चात् पण्डित द्यानतराय (1733-83 वि.सं.) जी ने **'सरस्वती पूजन'** और **देव-शास्त्र-गुरु** में ॐकारमयी शब्द का प्रयोग किया है।

तत्पश्चात् राजमलजी पवैया ने **'श्री गौतम स्वामी पूजन'** में प्रयोग किया है तथा वर्तमान में भी अनेक प्रचलित भक्तियाँ है जैसे –

'ॐकारमयी वाणी तेरी...।' और कुछ अन्य भक्तियों में भी ॐकारमयी शब्द का प्रयोग किया गया है। उपर्युक्त साहित्य को छोड़कर सिद्धान्त ग्रंथों में सर्वत्र ही दिव्यध्वनि को बीजपद रूप ही कहा है।

निष्कर्ष यह है कि वास्तव में तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि अनेक बीजपद रूप होती है, जिनमें से ओम भी एक बीजपद है; अतः दिव्यध्वनि को ओमकारमयी कहा जाता है; परन्तु दिव्यध्वनि मात्र ओमकारमयी नहीं होती है; अपितु अनेक बीजपद रूप होती है।

प्रश्न – बीजपद किसे कहते हैं?

उत्तर – 1. धवला पुस्तक 9, पृष्ठ 127 पर बीजपद की परिभाषा बताते हुए कहा है कि –

1. छांदोग्योपनिषद्, अध्याय – 2, खण्ड-23, पृष्ठ-231

''संखित्तसद्दरयणमणंतत्थावगमहेदुभूदाणेगलिंगसंगयं बीजपदं णाम।

अर्थ – संक्षिप्त शब्द रचना से सहित व अनन्त अर्थों के ज्ञान के हेतुभूत अनेक चिह्नों से सहित बीजपद कहलाता है। (अक्षर/वर्ण के समूह से पद/शब्द बनता है अर्थात् एक बीजपद में मात्र अक्षर/वर्ण नहीं होते हैं, अपितु पद/शब्द भी होते हैं।)

2. बीजपद लिंगिक-अलिंगिक, अक्षरात्मक-अनक्षरात्मक रूप होते हैं।

3. धवला पुस्तक 9, पृष्ठ 56 पर इसप्रकार कहते हैं –

''बीजमिव बीजं। जहा बीजं मूलंकुरपत्त-पोर-कंद-पसव-तुस-कुसुम-खीरतंदुलाणमाहारं तहा दुवालसंगत्थाहारं जं पदं तं बीजतुल्लत्तादो बीजं।

अर्थ – बीज के समान बीज कहा जाता है। जिसप्रकार बीज, मूल, अंकुर, पत्र, पोर, स्कन्ध, प्रसव, तुष, कुसुम, क्षीर, तंदुल आदि का आधार है; उसी प्रकार बारह अंगों के अर्थ का आधारभूत जो पद है, वह बीज तुल्य होने से बीज है।''

4. इन बीजपदों का प्रयोग मंत्रों में भी होता है।

मंत्र विज्ञान-मंत्र एक गूढ़ ज्ञान है। सद्गुरु की कृपा एवं मन को एकाग्र कर जब इसको जान लिया जाता है, तब यह साधक की सभी मनोकामनाओं को पूरा करता है। यह ऐसी गूढ़ विद्या है, जो साधकों को दुःखों से मुक्त कर न केवल उनकी सभी मनोकामनाओं को पूरा करती है, बल्कि उनको सांसारिक संयोगों से उत्पन्न क्षणिक आनन्द तक ले जाती है।

मंत्र दो प्रकार के होते हैं – 1. वैदिक मंत्र एवं 2. तांत्रिक मंत्र।

वैदिक संहिताओं की समस्त ऋचाएँ वैदिक मंत्र कहलाती हैं और तंत्रागमों में प्रतिपादित मंत्र, तांत्रिक मंत्र कहलाते हैं। तांत्रिक मंत्र तीन प्रकार के होते हैं – 1. बीज मंत्र, 2. नाम मंत्र एवं 3. माला मंत्र।

बीज मंत्र

दैवी या आध्यात्मिक शक्ति की अभिव्यक्ति देने वाला संकेताक्षर बीज कहलाता है। इसकी शक्ति एवं रूप अनन्त हैं। बीज मंत्र विभिन्न साधकों की साधनाओं के माध्यम से साधक को भिन्न-भिन्न प्रकार के रहस्यों से परिचित करवाता है। बीज मंत्र समस्त अर्थों का वाचक एवं बोधक होने के बावजूद अपने आप में गूढ़ है। अपने आराध्य देव का समस्त स्वरूप इसके बीज मंत्र में निहित होता है।

ये बीज मंत्र तीन प्रकार के होते हैं –

1. **मौलिक (एकाक्षर)** – जब बीज अपने मूल रूप में रहता है तब मौलिक बीज कहलाता है, जैसे – ऐं, यं, रं, लं, वं, क्षं आदि।

2. **यौगिक (बीजाक्षर)** – जब यह बीज दो वर्णों के योग से बनता है, तब यौगिक कहलाता है। जैसे ह्रीं, क्लीं, श्रीं, स्त्रीं, क्ष्रौं आदि।

3. **कूट (घनाक्षर)** – इसी तरह जब बीज तीन या उससे अधिक वर्णों से बनता है तब यह कूट बीज कहलाता है। ये श्रीविद्या, जैन एवं बौद्ध मंत्रों में अधिक मिलते हैं। खास बात यह है कि बीज मंत्रों में समग्र शक्तियाँ विद्यमान होते हुए भी गुप्त रहती हैं।

नाम मंत्र

बीज रहित मंत्रों को नाम मंत्र कहते हैं, जैसे 'नमः देवाय', 'नमः गुरवे' 'नमो भगवते महावीराय' आदि। इन मंत्रों के शब्द उनके देवता, उनके रूप एवं उनकी शक्ति को अभिव्यक्ति देने में समर्थ होते हैं; इसलिए इन मंत्रों को भक्तिभाव से कभी भी स्मरण किया जा सकता है।

माला मंत्र

कुछ आचार्यों के अनुसार 20 अक्षरों से अधिक और अन्य आचार्यों के अनुसार 32 अक्षरों से अधिक अक्षर वाला मंत्र माला-मंत्र कहलाता है।

माला मंत्रों के वर्णों की पूर्व मर्यादा 20 या 32 अक्षर हैं, लेकिन इनकी उत्तर मर्यादा का मंत्रशास्त्र में उल्लेख नहीं मिलता; इसलिए माला मंत्र कभी-कभी छोटे और कभी-कभी अपेक्षाकृत अधिक लम्बे होते हैं।

माला मंत्र दो प्रकार के होते हैं – 1. लघु माला मंत्र एवं 2. बृहद माला मंत्र।

इसप्रकार मंत्रों के स्वरूप में बीजपदों के स्वरूप को विस्तार से स्पष्ट किया है।

जिसप्रकार वृक्ष का मूल एक बीज होता है, उसी बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है; उसीप्रकार दिव्यध्वनि बीजपद रूप होती है और गणधर देव उन बीजपद में से विस्तार करके बारह अंगों रूप वृक्ष को उत्पन्न करते हैं।

ये बीजपद अक्षर और अनक्षर दोनों रूप होते हैं।

प्रश्न – यहाँ कोई कहे कि बीजपद मात्र अनक्षर रूप होते हैं, इसलिए दिव्यध्वनि भी अनक्षरात्मक ही होती है।

उत्तर – पहली बात यह है कि बीजपद अक्षर और अनक्षर दोनों रूप होते हैं। अब रही बात दिव्यध्वनि की तो इसमें विभिन्न आगम प्रमाण उपलब्ध होते हैं। कई आगम प्रमाण अक्षर रूप होने के हैं और कई आगम प्रमाण अनक्षर रूप होने के हैं और कई प्रमाण दोनों रूप होने के हैं। हमें न ही अक्षरात्मक का पक्ष है और न ही अनक्षरात्मक का

पक्ष है, क्योंकि इसमें हमारा कोई प्रयोजन नहीं है; अतः हम तो अक्षरानक्षरात्मक दिव्यध्वनि को ही आगम के आधार से देखते हैं –

धवलाकार वीरसेन आचार्य धवला पुस्तक 9, पृष्ठ 58 में इसप्रकार कहते हैं –

''ण बीजबुद्धीए अभावो, ताए विणा अणवगयर्तित्थयरवयण-विणिग्गयअक्खराणक्खरप्पयबहुलिंगालिंगियबीजपदाणं गणहर-देवाणं दुवालसंगाभावप्पसंगादो।

अर्थ – बीजबुद्धि का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि उसके बिना गणधर देवों का तीर्थंकर से निकले हुए **'अक्षर और अनक्षर स्वरूप बीजपदों'** का ज्ञान न होने से द्वादशांग के अभाव का प्रसंग आएगा।''

आचार्य गुणधर कषायपाहुड़ में इसप्रकार कहते हैं – ''**अक्खराणक्खरप्पिया।** (दिव्यध्वनि) अक्षर-अनक्षरात्मक है।''[1]

आचार्य वीरसेन स्वामी निष्कर्ष के रूप में धवला पुस्तक 9, पृष्ठ 59 पर इसप्रकार लिखते हैं – ''अक्षरानक्षरात्मक 700 कुभाषा और 18 महाभाषा स्वरूप, नाना भेदों से भिन्न बीजपद रूप व प्रत्येक क्षण में भिन्न-भिन्न भावों को प्राप्त होने वाली ऐसी दिव्यध्वनि...।''

तात्पर्य यह है कि दिव्यध्वनि बीजपदों रूप होती है। बीजपद अक्षर-अनक्षरात्मक होते हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न भाव भरे हुए हैं तथा यहाँ कहा है कि '700 कुभाषा और 18 महाभाषा स्वरूप' भी होती है; पर यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि दिव्यध्वनि 700 कुभाषा और 18 महाभाषा स्वरूप परिणमित होती है; इसे ही यह 'दिव्यध्वनि 700 कुभाषा और 18 महाभाषा स्वरूप' इसप्रकार कहा है।

1. कषायपाहुड़, भाग-1, पृष्ठ – 126

क्योंकि आचार्य वीरसेन स्वामी स्वयं ही धवला पुस्तक 9, पृष्ठ-127 पर लिखते हैं कि –

''तेसिमणेयाणं बीजपदाणं दुवालसंगप्पयाणमट्ठारस-सत्तसयभास-कुभासरूवाणं परूवओ अत्थकत्तारोणाम, बीजपद-णिलीणत्थपरूवयाणं दुवाल-संगाणं कारओ गणहरभडारओ गंथकत्तारओ त्ति अब्भुवगमादो''

अर्थ – 'अठारह भाषा व सात सौ कुभाषा स्वरूप द्वादशांगात्मक' उन अनेक बीज पदों के प्ररूपक अर्थकर्ता हैं तथा बीज पदों में लीन अर्थ के प्ररूपक बारह अंगों के कर्ता गणधर भट्टारक ग्रन्थकर्ता हैं।''

यहाँ स्पष्ट रूप से लिख रहे हैं कि – '18 महाभाषा व 700 कुभाषा स्वरूप 'द्वादशांग' है।' दिव्यध्वनि स्वयं 18 भाषा व 700 कुभाषा न होने का एक कारण यह भी है कि दिव्यध्वनि में अनन्त पदार्थ आते हैं। उनका अनन्तवाँ भाग गणधर झेलते हैं और उसका भी अनन्तवाँ भाग गूँथते (द्वादशांग) हैं। यदि दिव्यध्वनि 700 कुभाषा और 18 महाभाषा स्वरूप होगी तो वह अनन्त पदार्थों का निरूपण नहीं कर सकती है; क्योंकि वचन में अनन्त पदार्थों का निरूपण करने की शक्ति ही नहीं है। इसे ही धवलाकार (धवला पुस्तक 9, पृष्ठ 56) इसप्रकार कहते हैं –

''वचन के अगोचर ऐसे जीवादि पदार्थों के अनन्तवें भाग प्रज्ञापनीय अर्थात् तीर्थंकर की सातिशय दिव्यध्वनि में प्रतिपाद्य होते हैं तथा प्रज्ञापनीय पदार्थों के अनन्तवें भाग प्रमाण, द्वादशांग श्रुत में निबद्ध किये जाते हैं।''

पंचास्तिकाय संग्रह की गाथा 1 की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन स्वामी ने 18 महाभाषाओं के नाम इसप्रकार बताए हैं –

''1. कन्नड़, 2. मागधी, 3. मालव, 4. लाट, 5. गौड़, 6. गुर्जर। प्रत्येक की तीन, इसप्रकार 18 महाभाषाएँ होती हैं।''

इसप्रकार तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि 18 महाभाषा और 700 लघु भाषा रूप परिणमित होती है।

प्रश्न – यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि जिसको एक भाषा का ज्ञान हो वह तो उसी में समझ जाएगा; परन्तु जिसे अनेक भाषाओं का ज्ञान हो, वह किस भाषा में समझेगा?

उत्तर – वह व्यक्ति जिस भाषा में सोचता है, विचार करता है, वह उसी भाषा में दिव्यध्वनि के मर्म को समझता है।

परन्तु अनेक स्थानों पर दिव्यध्वनि को **सर्वार्धमागधी (अर्धमागधी)** रूप भी कहा है। जैसे – हरिवंशपुराण में तीसरे सर्ग के 16वें श्लोक में कहा है –

''सर्व भाषा रूप परिणमित होने वाली भगवान की अर्धमागधी भाषा का कर्णपुटों से पान करते हुए तीन लोक के जीव संतुष्ट हो गए।''

दर्शनपाहुड़ की षट्प्राभृत टीका में इसप्रकार लिखा है – (35/28/12)।

''अर्धं भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मकं अर्धं व सर्वभाषात्मकं।

अर्थ – तीर्थंकर की दिव्यध्वनि आधी मगध देश की भाषा रूप और आधी सर्व भाषा रूप होती है।'' तथा देवकृत 14 अतिशयों में से पहला अतिशय 'सर्वार्धमागधी भाषा' है, इसलिए कहा जाता है कि यह दिव्यध्वनि मागध जाति के देवों द्वारा अर्ध मागधी भाषा रूप परिवर्तित की जाती है।

परन्तु 'सर्वार्धमागधी भाषा' इस देवकृत अतिशय का उपर्युक्त अर्थ उपयुक्त नहीं है। इसका निषेध करते हुए आचार्य जिनसेन स्वामी (प्रथम) आदिपुराण के 23वें सर्ग के 73वें श्लोक में इसप्रकार कहते हैं कि –

देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद् देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात्।।73।।

''कोई कहता है कि दिव्यध्वनि देवों द्वारा की जाती है, परन्तु उनका यह कहना मिथ्या है, क्योंकि वैसा मानने पर भगवान के गुणों का घात होता होगा।''

कषाय पाहुड़ की टीका जयधवला पुस्तक 1, पृष्ठ 115 पर भी इसप्रकार ही कहा है –

''दिव्यध्वनि स्वयं 18 महाभाषा और 700 लघु भाषाओं से गर्भित है; अतः देवों द्वारा भाषा परिवर्तन की बात बिल्कुल उचित नहीं है व निराधार है।''

तिलोय पण्णत्ति में 34 अतिशयों का विभाजन इसप्रकार किया है – 10 जन्म, 11 केवलज्ञान, 13 देवकृत अतिशय। यहाँ देवकृत अतिशय का जो पहला अतिशय 'सर्वार्धमागधी भाषा' इसे परिवर्तित करके केवलज्ञान के 11वें अतिशय के रूप में '18 महाभाषा, 700 क्षुद्र भाषा में उपदेश देना' रखा है।

प्रश्न – तथापि अन्यत्र तो 14 देवकृत अतिशयों में 'सर्वार्धमागधी भाषा' इसे ही रखा है तब दिव्यध्वनि देवकृत होती है, इसका क्या औचित्य रहा?

उत्तर – उसका उत्तर देते हुए समवशरण स्तोत्र में आचार्य विष्णुसेन इसप्रकार कहते हैं –

''दूरासन्नसमं समं निरूपमं जैनं वचः पातुः नः''[1]

1. समवशरण स्तोत्र, श्लोक–29

अर्थात् दूर और समीप में स्थित जीवों को समान रूप से सुनाई देती है।

क्रिया कलाप के नंदीश्वर भक्ति प्रकरण में श्लोक 5 और 6 में इसप्रकार लिखते हैं।

''दिव्यध्वनि में सकलजनों को भाषण देने की सामर्थ्य देवों के निमित्त से आती है।''

तात्पर्य यह है कि एक योजन के भीतर दूर बैठे हुए व निकट बैठे हुए सभी जीवों को हीनाधिकता से रहित समान रूप से दिव्यध्वनि के प्रसारण का कार्य मागध जाति के देव करते हैं; भगवान द्वारा वक्तृत्व रूप से आधा कार्य व मागध जाति के देवों के द्वारा आधा कार्य प्रसारण के रूप में किया जाने से दिव्यध्वनि को अर्धमागधी रूप कहा है।

प्रश्न – तब तो सभी जीव स्वयं ही दिव्यध्वनि को समझ लेते होंगे?

उत्तर – नहीं, सभी जीव स्वयं से दिव्यध्वनि के मर्म को नहीं समझ पाते हैं; क्योंकि दिव्यध्वनि अनेक बीजपदों रूप होती है। ऐसे बीजपदों को समझने की शक्ति सामान्य जीवों में नहीं होती है; इसलिए ऐसे बीजपदों के मर्म को समझने और समझाने में समर्थ गणधर देव के माध्यम से ही सामान्य जीवों को दिव्यध्वनि का लाभ मिलता है।

प्रश्न – तीर्थंकर देव के समवशरण में ऐसा अन्याय कैसे हो सकता है कि उनकी वाणी का लाभ सामान्य जीव नहीं ले सकते हैं और मात्र गणधर आदि ही ले सकते हैं?

उत्तर – अरे भाई! इसमें तीर्थंकर देव का कोई दोष नहीं है, इसमें तो सामान्य जीवों की सामर्थ्य का ही दोष है कि उनमें इतनी सामर्थ्य ही नहीं होती है कि वे तीर्थंकर की दिव्यध्वनि का सीधा लाभ ले सकें तथा

गणधर देव में ऐसी सामर्थ्य होती है कि वे दिव्यध्वनि के मर्म को जान सकते हैं और साथ ही साथ अन्य सभी जीवों को बता भी सकते हैं। गणधर देव की ही आवश्यकता बताते हुए कषायपाहुड़ में प्रश्नोत्तर शैली में इसप्रकार निरूपण किया है –

''**प्रश्न –** जिसने आपके पादमूल में महाव्रत स्वीकार किए हैं, ऐसे पुरुष को छोड़कर अन्य के निमित्त से दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती है?

उत्तर – ऐसा ही स्वभाव है कि दिव्यध्वनि को झेलने की सामर्थ्य मात्र गणधर देव में ही होती है, अन्य में नहीं होती है; अतः दिव्यध्वनि खिरने में गणधर रूप निमित्त कारण की आवश्यकता अनिवार्य है।''

तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि अनेक बीजपद स्वरूप होती है तथा इन बीजपदों को जानने वाली बीजबुद्धि ऋद्धि गणधर देव के समीप होती है। जिसकारण वे बीजपदों रूप दिव्यध्वनि का मर्म समझते हैं। इसे ही धवला में इसप्रकार कहा है –

''परोवदेसेण विणा अक्खराणक्खरसरुवासेसभासंतरकुसलो समवसरणजणमेत्तरुवधारित्तणेण अम्हम्हाणं भासाहि अम्हम्हाणं चेव कहेदिं त्ति सत्वेसिं पच्चउप्पायओ समवसरणजणसोदिंदिएसु सगमुहविणिग्गयाणेयभासाणं संकरेण पवेसस्स विणिवारओ, गणहरदेवो गंथकत्तारो।''[1]

अर्थ – प्रश्न – एक ही बीजपद रूप भाषा सर्व जीवों को उन-उनकी भाषा रूप से ग्रहण होनी कैसे संभव है?

उत्तर – परोपदेश के बिना अक्षर-अनक्षर रूप सब भाषाओं में कुशल समवशरण में स्थित जन मात्र रूप के धारी होने से 'हमारी-हमारी भाषा से हम-हमको ही कहते हैं', ''इस प्रकार सबको विश्वास

1. धवला पुस्तक-9, पृष्ठ-128

कराने वाले तथा समवशरणस्थ जनों के कर्ण इन्द्रियों में अपने मुँह से निकली हुई अनेक भाषाओं के सम्मिश्रित प्रवेश के निवारक ऐसे गणधर देव ग्रन्थकर्ता है। (वास्तव में गणधर देव ही जनता को उपदेश देते हैं।)''

इसे ही आगे स्पष्ट करते हुए अर्थकर्ता और ग्रंथकर्ता का स्वरूप बताते हैं –

''योजनान्तरदूरसमीपस्थाष्टादशभाषासप्तहतशतकुभाषायुत – तिर्यग्देवमनुष्यभाषाकारन्यूनाधिकभावातीतमधुरमनोहरगंभीरविशदवागतिशयसंपन्नः...महावीरोऽर्थकर्ता।

अर्थ – एक योजन के भीतर दूर अथवा समीप बैठे हुए अठारह महाभाषा और सात सौ लघु भाषाओं से युक्त ऐसे तिर्यंच, मनुष्य, देवों की भाषारूप में परिणत होने वाली तथा न्यूनता और अधिकता से रहित मधुर, मनोहर, गंभीर एवं विशद – ऐसी भाषा के अतिशय को प्राप्त...श्री महावीर तीर्थंकर अर्थकर्ता हैं।''[1]

''तेसिमणेयाणं बीजपदाणं दुवालसंगप्पयाणमट्ठारस–सत्तसयभास–कुभासरूवाणं परुवओ अत्थकत्तारोणाम, बीजपद णिलीणत्थपरूवयाणं दुवाल–संगाणं कारओ, गणहरभडारओ गंथ कत्तारओ त्ति अब्भुवगमादो।

अर्थात् – अठारह भाषा व सात सौ कुभाषा स्वरूप द्वादशांगात्मक उन अनेक बीज पदों का प्ररूपक अर्थकर्ता है तथा बीजपदों में लीन अर्थ के प्ररूपक बारह अंगों के कर्ता गणधर भट्टारक ग्रन्थकर्ता हैं, ऐसा स्वीकार किया गया है। अभिप्राय यह है कि बीजपदों का जो व्याख्याता है वह ग्रन्थकर्ता कहलाता है।''[2]

1. धवला पुस्तक–1, पृष्ठ–62 2. धवला पुस्तक–9, पृष्ठ–127

इसप्रकार दिव्यध्वनि को झेलने में एक मात्र गणधर देव ही समर्थ हैं, अन्य कोई नहीं। गणधर देव ही बीजबुद्धि आदि ऋद्धियों के माध्यम से द्वादशांग की रचना करते हैं।

प्रश्न – बीजबुद्धि आदि ऋद्धियों के माध्यम से द्वादशांग की रचना कैसे करते हैं?

उत्तर – बीजबुद्धि ऋद्धि के माध्यम से बीजपदों का स्वरूप जानते हैं। बीजपदों की विस्तार से चर्चा पूर्व में कर ही आए हैं।

बीजबुद्धि ऋद्धि से अर्थ का विस्तार करके कोष्ठत्व बुद्धि ऋद्धि से उस अर्थ को ज्यों का त्यों रखते हैं; ऐसी बुद्धि में ग्रहण करके उन्हें मिश्रण के बिना बुद्धि रूपी कोठे में व्यवस्थित करते हैं और उस अर्थ को ज्यों का त्यों रखते हैं; जिसप्रकार तिजोरी में खजाना ज्यों का त्यों रखा रहता है, जिस स्थान पर रखते हैं, उसी स्थान पर मिलता है; उसीप्रकार गणधर देव कोष्ठत्व बुद्धि ऋद्धि के कारण बीज बुद्धि ऋद्धि से जाने हुए अर्थ को ज्यों का त्यों धारण, स्मरण और ग्रहण करते हैं।

बीजबुद्धि से बीजपदों को जानकर यहाँ उन अक्षरों का यह लिङ्ग है और इनका यह लिङ्ग नहीं है – इसप्रकार विचारकर समस्त अक्षर और पदों को जानने वाली पदानुसारी बुद्धि ऋद्धि है। इस ऋद्धि के कारण पद से संबंधित (यहाँ इसका यह लिङ्ग है, यह नहीं) ज्ञान होता है।

समस्त श्रुत के अक्षरों–पदों को जानने वाली पदानुसारी बुद्धि ऋद्धि है; परन्तु अक्षर और पद का अन्तरभाव तो बीज पद में होता है; अतः पदानुसारी बुद्धि ऋद्धि से अक्षर और पद को विषय नहीं करते; अपितु पदों से उत्पन्न होने वाले श्रुतज्ञान को विषय करते हैं। ''एक को जानना मतिज्ञान है। एक पद से अन्य पदों को जानना पदानुसारी है।''[1] तभी तो कहा है –

1. धवला पुस्तक–9, पृष्ठ–60

''ग्रंथ के आदि, मध्य या अंत के किसी एक पद को सुनकर संपूर्ण ग्रन्थ कह सकने की शक्ति इस पदानुसारी बुद्धि ऋद्धि में होती है।''[1]

तथा संभिन्न श्रोतृत्व बुद्धि ऋद्धि से एक साथ अनेक प्रकार के जीवों की अनेक प्रकार की ध्वनि को सुनकर अलग-अलग उत्तर सुनाने की शक्ति होती है।

इन चारों ऋद्धियों के बिना द्वादशांग की रचना नहीं हो सकती है; अतः दिव्यध्वनि के खिरने में और द्वादशांग की रचना में इन चार ऋद्धियों की आवश्यकता अनिवार्य है।

इसप्रकार इन बुद्धि आदि चार ऋद्धियों के धारक गणधर देव इन ऋद्धियों के द्वारा द्वादशांग की उत्पत्ति करते हैं; अतः दिव्यध्वनि खिरने में गणधररूप निमित्त की अनिवार्यता कही है। (अन्य जीवों में ऐसी सामर्थ्य नहीं होने से अन्यों की आवश्यकता नहीं है। धवलाकार भी इसीप्रकार कहते हैं -

''गणहरदेवेसु चत्तारि बुद्धिओ, अण्णहा दुवालसंगाणमणुप्पत्ति-प्पसंगादो।

अर्थ - गणधर देवों के चार बुद्धि ऋद्धियाँ होती हैं; क्योंकि उनके बिना बारह अंगों की उत्पत्ति न हो सकने का प्रसंग आएगा।''[2]

इसप्रकार गणधर देव बुद्धि आदि चार ऋद्धियाँ के माध्यम से द्वादशांग की उत्पत्ति करते हैं। इसी को अन्य शब्दों में कहें तो गणधर देव द्वादशांग को गूँथते (व्यवस्थित करते) हैं।

प्रश्न - जब दिव्यध्वनि खिरने में गणधर देव की ही आवश्यकता है, मात्र वे ही झेल सकते हैं तब फिर वहाँ अन्य जीवों को क्या लाभ होता है तथा उनकी शंकाओं का समाधान कैसे होता है?

1. धवला पुस्तक-9, पृष्ठ-60 2. धवला पुस्तक-9, पृष्ठ-58

उत्तर - जिसप्रकार कोई दो व्यक्ति परस्पर में वार्तालाप कर रहे हों; परन्तु दोनों की भाषा भिन्न-भिन्न हो, तब एक अनुवादक उन दोनों की वार्ता को परस्पर दोनों को बतलाता है; उसीप्रकार यहाँ दिव्यध्वनि बीजपद के रूप में खिरती है तथा इन बीजपदों का सामान्य जीवों को ज्ञान नहीं होता है; अतः वे उन्हें जानने में असमर्थ होते हैं; तब अनुवादक के रूप में वहाँ गणधर देव उपस्थित होते हैं। वे उन बीजपदों को जानकर उनका अर्थ सामान्य जीवों को बतलाते हैं - इसप्रकार उन सामान्य जीवों को भी दिव्यध्वनि का लाभ मिलता है।

गणधर देव अपनी संभिन्न-श्रोतृत्व बुद्धि ऋद्धि से हाथी, घोड़े, ऊँट, बैल, पक्षी, मनुष्य, देवादि सभी के अक्षर, अनक्षर रूप नाना प्रकार के शब्दों को एक साथ सुनकर सबको अलग-अलग उनकी ही भाषा में उत्तर देते हैं और मनःपर्यय ज्ञान ऋद्धि के द्वारा उनकी मन की शंकाओं को जानकर भी उनका समाधान करते हैं तथा उनके वचन में इतनी शक्ति है कि वे अन्तर्मुहूर्त काल मात्र में ही सम्पूर्ण द्वादशांग का पाठ कर सकते हैं।

इसप्रकार संभिन्न-श्रोतृत्व बुद्धि ऋद्धि, मनःपर्यय ज्ञान बुद्धि ऋद्धि, वचन बल ऋद्धि के धारक गणधर देव, भव्य जीवों की शंकाओं का समाधान करते हैं।

तीर्थंकर देव के अतिशय, गणधरों की ऋद्धि के प्रभाव से अथवा भव्य जीवों के भाग्य से यह सब इतनी शीघ्रता से होता है कि सामान्य जीवों को इस भेद का ज्ञान ही नहीं हो पाता है।

दूसरा पक्ष यह है कि सामान्य जीव गणधर देव से ही शंका-समाधान करते हैं। वे सीधे तीर्थंकर देव से अपनी शंकाएँ करें; इतनी

उनमें सामर्थ्य ही नहीं होती है। इसके संदर्भ में आदिपुराण के प्रथम सर्ग में ऐसा ही प्रसंग आया है कि –

भरत चक्रवर्ती तीर्थंकर ऋषभदेव के समवशरण में गए, वहाँ उन्हें प्रश्न पूछने की जिज्ञासा हुई कि "मेरे हृदय में कुछ पूछने की इच्छा उठ रही है और इस इच्छा का कारण आपके वचन रूपी अमृत के निरन्तर पान करते रहने की लालसा ही समझनी चाहिए। हे देव! यद्यपि लोग कह सकते हैं कि गणधर को छोड़कर साक्षात् आपसे पूछने वाला यह कौन है? तथापि मैं इस बात को कुछ नहीं समझता; आपकी सातिशय भक्ति ही मुझे आपसे प्रश्न पूछने के लिए प्रेरित कर रही है।"

इस प्रसंग से यही प्रतिफलित होता है कि सामान्य जीव अपनी शंकाओं को गणधर देव से ही पूछते हैं और गणधर देव, अपनी ऋद्धियों से भव्य जीवों की शंकाओं को सुनकर उनका समाधान करते हैं।

पुराण का प्रारंभ भी अधिकतर ऐसे ही वाक्य से होता है कि "राजा श्रेणिक गौतम गणधर से पूछते हैं।" इससे भी यही फलित होता है कि सामान्य जीवों का शंका-समाधान गणधर देव ही करते हैं।

प्रश्न – वहाँ शंका-समाधान करने की व्यवस्था किस प्रकार होती है?

उत्तर – सभी जीव एक साथ अपनी-अपनी शंकाओं को पूछते हैं तथा गणधर देव भी सभी जीवों की शंकाओं को सुनकर एक साथ ही समाधान करते हैं।

गणधर देव किस दिशा में मुख करके जीवों की शंकाओं का समाधान करते हैं? इस संदर्भ में हरिवंशपुराण में लिखा है कि –

तां कृत्वा दक्षिणे भागे धीरैर्बहुश्रुतैर्वृतः।
श्रुतं व्याकुरुते यत्र श्रायसं श्रुतकेवली।।87।।

अर्थात् उन श्रुत देवता को दाहिने (right) भाग में करके, बहुश्रुत के धारक अनेक ऋद्धियों के धारक वीर मुनियों से घिरे हुए श्रुतकेवली कल्याणकारी श्रुत का व्याख्यान करते हैं।

"सम, सीधे और विस्तृत स्थान पर पर्यंकासन में बैठते हैं। बाँया हाथ पर्यंक पर तथा दाहिना हाथ उपदेश देने के लिए कुछ ऊपर उठा हुआ रहता है।"[1]

89वें श्लोक में कहा –

तत्प्रकीर्णकवासेषु चित्रेष्वाचक्षते स्फुटम्।
ऋषयः स्वेष्टमार्थिभ्य केवलादिमहर्द्धयः।।89।।

अर्थात् इन मण्डपों के समीप में नाना प्रकार के फुटकर (सभागृहादि) स्थान भी बने रहते हैं। जिसमें बैठकर केवलज्ञान आदि महाऋद्धियों के धारक ऋषि इच्छुक जनों के लिए उनकी इष्ट वस्तु का निरूपण करते हैं।

इसप्रकार गणधर देव अपनी सभा में विराजमान होते हुए, तीर्थंकर देव को दाहिने भाग में करके उपदेश देते हैं तथा केवलज्ञान आदि ऋद्धियों के धारक केवली भगवान (जिन्हें वहीं बैठे-बैठे केवलज्ञान हुआ है) ऐसे केवली भगवान अन्य अनेक फुटकर (सभागृह आदि) स्थानों में बैठकर उपदेश देते हैं।

प्रश्न – शंका-समाधान भले ही गणधर देव करते हैं; परन्तु दिव्यध्वनि तो तीर्थंकर देव की ही खिरती है, तो प्रवचनकार की गद्दी को 'गणधर की गद्दी' क्यों कहते हैं, 'तीर्थंकर की गद्दी' क्यों नहीं कहते हैं?

उत्तर – गणधर और प्रवचनकार में कुछ समानताएँ हैं। जैसे –

1. गणधर देव एक दूत हैं, जो भगवान की वाणी को लेकर आगे

1. आदिपुराण – 2/94, 95

प्रसारित करते हैं। इसीप्रकार प्रवचनकार भी एक दूत हैं। वे भी गणधर, आचार्य आदि से प्राप्त ज्ञान को आगे प्रसारित करते हैं; अतः गणधर की गद्दी कहने का मुख्य कारण तो यही है। साथ ही अन्य अनेक कारण भी हो सकते हैं। जैसे –

2. गणधर भी इच्छावान होते हैं और प्रवचनकार भी इच्छावान ही होते हैं।

3. गणधर छद्मस्थ होते हैं। प्रवचनकार भी छद्मस्थ होते हैं।

इसप्रकार अनेक समानताएँ होने के कारण 'गणधर की गद्दी' कहते हैं; परन्तु प्रत्येक प्रवचनकार गणधर देव के समान ऋद्धियों के धारक नहीं होते हैं।

प्रश्न – गणधर देव को कितनी ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं व कौन-कौन सीं?

उत्तर – सामान्य रूप से ऋद्धियाँ अनेक प्रकार की होती हैं, फिर भी ग्रंथों में 8 प्रकार अथवा 64 प्रकार की ऋद्धियों का विशेष रूप से उल्लेख प्राप्त होता है, वह इसप्रकार है –

1. 18 बुद्धि ऋद्धियाँ

1. केवलज्ञान बुद्धि ऋद्धि
2. मनः पर्ययज्ञान बुद्धि ऋद्धि
3. अवधिज्ञान बुद्धि ऋद्धि
4. बीजपद बुद्धि ऋद्धि
5. कोष्ठत्व बुद्धि ऋद्धि
6. संभिन्न – श्रोतृत्व बुद्धि ऋद्धि
7. पदानुसारी बुद्धि ऋद्धि
8. दूरात् स्पर्शनत्व बुद्धि ऋद्धि

9. दूरात् श्रवणत्व बुद्धि ऋद्धि
10. दूरात् घ्राणत्व बुद्धि ऋद्धि
11. दूरात् आस्वादनत्व बुद्धि ऋद्धि
12. दूरात् दर्शनत्व बुद्धि ऋद्धि
13. प्रज्ञा श्रमणत्व बुद्धि ऋद्धि
14. प्रत्येक बुद्धत्व बुद्धि ऋद्धि
15. दश पूर्वित्व बुद्धि ऋद्धि
16. चतुर्दश पूर्वित्व बुद्धि ऋद्धि
17. वादित्व बुद्धि ऋद्धि
18. अष्टांग महानिमित्तत्व बुद्धि ऋद्धि

2. 9 क्रिया (चारण) ऋद्धियाँ

19. जल चारण ऋद्धि
20. जंघा चारण ऋद्धि
21. तंतु चारण ऋद्धि
22. फल चारण ऋद्धि
23. पुष्प चारण ऋद्धि
24. बीज चारण ऋद्धि
25. आकाश चारण ऋद्धि
26. श्रेणी चारण ऋद्धि
27. विहार चारण ऋद्धि

3. 11 विक्रिया ऋद्धियाँ

28. अणिमा विक्रिया ऋद्धि
29. महिमा विक्रिया ऋद्धि
30. गरिमा विक्रिया ऋद्धि

31. लघिमा विक्रिया ऋद्धि
32. प्राप्ति विक्रिया ऋद्धि
33. प्राकाम्य विक्रिया ऋद्धि
34. ईशत्व विक्रिया ऋद्धि
35. वशित्व विक्रिया ऋद्धि
36. अप्रतिघाति विक्रिया ऋद्धि
37. अंतर्धान विक्रिया ऋद्धि
38. कामरूपित्व विक्रिया ऋद्धि

4. 7 तप ऋद्धियाँ

39. उग्र तप ऋद्धि
40. घोर तप ऋद्धि
41. घोरपराक्रम तप ऋद्धि
42. घोर ब्रह्मचर्य तप ऋद्धि
43. तप्त तप ऋद्धि
44. दीप्त तप ऋद्धि
45. महातप ऋद्धि

5. 3 बल ऋद्धियाँ

46. मन बल ऋद्धि
47. वचन बल ऋद्धि
48. काय बल ऋद्धि

6. 8 औषधि ऋद्धियाँ

49. आमर्ष औषधि ऋद्धि
50. क्ष्वेल औषधि ऋद्धि
51. जल्ल औषधि ऋद्धि

52. मल औषधि ऋद्धि
53. विड् औषधि ऋद्धि
54. सर्व औषधि ऋद्धि
55. मुख निर्विष औषधि ऋद्धि
56. दृष्टि निर्विष औषधि ऋद्धि

7. 6 रस ऋद्धियाँ

57. आस्या रस ऋद्धि
58. दृष्टि विष रस ऋद्धि
59. क्षीर स्रावी रस ऋद्धि
60. मधु स्रावी रस ऋद्धि
61. सर्पि स्रावी रस ऋद्धि
62. अमृत स्रावी रस ऋद्धि

8. 2 क्षेत्र ऋद्धियाँ

63. अक्षीण महानस क्षेत्र ऋद्धि
64. अक्षीण महालय क्षेत्र ऋद्धि

इसप्रकार इन 64 ऋद्धियों में से केवलज्ञान बुद्धि ऋद्धि को छोड़कर शेष 63 अथवा 8 ऋद्धियों के धारक गणधर देव होते हैं।

प्रश्न – गणधर देव 63 अथवा 8 ऋद्धियों के धारी होते हैं इस कथन में विरुद्धता है। 63 और 8 में से कोई एक ही होना चाहिए।

उत्तर – नहीं, यहाँ कथन भेद नहीं है, अपितु मात्र विवक्षा भेद है। 63 ऋद्धियों के स्वामी होते हैं यह भेद विवक्षा का कथन है और 8 ऋद्धियों के स्वामी होते हैं। यह अभेद विवक्षा का कथन है।

प्रश्न – परन्तु आदिपुराण में 'सप्त ऋद्धिधारी गणधर' ऐसा कहा है और ऊपर 'अष्ट ऋद्धि धारी गणधर' कहा है, ऐसा अन्तर क्यों है तथा वे 7 अथवा 8 ऋद्धियाँ कौन–कौन सी होती हैं?

उत्तर – इसमें भी मात्र भेद-अभेद अपेक्षा का ही अन्तर है। जब 8 ऋद्धियाँ कहीं जाएँ वहाँ बुद्धि, क्रिया, विक्रिया, तप, बल, औषधि, रस और क्षेत्र इन 8 ऋद्धियों को ग्रहण करना तथा जब 7 ऋद्धियाँ कही जाएँ वहाँ क्रिया को विक्रिया ऋद्धि में अन्तरगर्भित कर लिया जाता है। ''(बुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि, रस, बल और अक्षीण इसप्रकार ऋद्धियाँ 7 कही गई हैं।)''[1]

तीर्थंकर देव का संघ भी सप्त विध संघ होता है। इस सप्त विध संघ में सात भिन्न-भिन्न ऋद्धियों के धारक 7 प्रकार के मुनिराज होते हैं। जैसे –

1. पूर्वधर मुनिराज दशपूर्वित्व अथवा चतुर्दश पूर्वित्व ऋद्धियों के;
2. अवधिज्ञानी मुनिराज, अवधिज्ञान ऋद्धि के;
3. विक्रियाधारी मुनिराज, विक्रिया ऋद्धि के;
4. केवलज्ञानी मुनिराज, केवलज्ञान ऋद्धि के;
5. विपुल मति मुनिराज, मनः पर्यय ऋद्धि के;
6. वादी मुनिराज, वादित्व ऋद्धि के;
7. शिक्षक मुनिराज, प्रज्ञा श्रमणत्व आदि ऋद्धियों के धारक होते हैं।

प्रश्न – समवशरण में गणधर देव की कितनी ऋद्धियों का प्रयोग साक्षात् देखने में आता है?

उत्तर – गणधर देव बीज पद बुद्धि ऋद्धि, कोष्ठत्व बुद्धि ऋद्धि, पदानुसारी बुद्धि ऋद्धि और संभिन्न-श्रोतृत्व बुद्धि ऋद्धियों के द्वारा द्वादशांग की रचना करते हैं।

संभिन्न-श्रोतृत्व बुद्धि ऋद्धि, प्रज्ञा-श्रमणत्व, वचन बल ऋद्धियों के द्वारा भव्य जीवों की शंकाओं का समाधान करते हैं।

1. धवला पुस्तक-9, पृष्ठ – 58

औषधि ऋद्धियों के द्वारा कोई भी रोगी नहीं होता है। किसी के भी जन्म-मरण आदि रोग नहीं होते हैं।

अक्षीण महालय ऋद्धि के कारण संख्यात क्षेत्र में असंख्यात जीव बिना किसी बाधा के बैठ जाते हैं।

दीप्त तप ऋद्धि के कारण गणधर देव आजीवन (मुनि दीक्षा से केवलज्ञान पर्यन्त और केवलज्ञान अवस्था में तो आहार होता ही नहीं है।) उपवासी रहते हैं, फिर भी उनके शरीर की कांति कम नहीं होती है, अपितु निरन्तर वृद्धि को ही प्राप्त होती रहती है। गणधर देव प्रतिसमय तीर्थंकर देव के साथ ही रहते हैं। जब तीर्थंकर देव के आहार नहीं होता है तब उनके साथ सदा उपस्थित रहने वाले गणधर देव आहार कैसे करेंगे अर्थात् वे आजीवन उपवासी रहते हैं।

इसप्रकार समवशरण में गणधर देव की 63 ऋद्धियों में से लगभग 20-22 ऋद्धियों का प्रयोग साक्षात् देखने में आता है, परन्तु अन्य ऋद्धियों का प्रयोग देखने में नहीं आता है। इसका अर्थ यह नहीं कि उनको (गणधर देव को) अन्य ऋद्धियाँ होती ही नहीं है। किसी न किसी रूप में तो प्रयोग अवश्य ही होता है।

प्रश्न – तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि को झेलने में एक ही गणधर की आवश्यकता पर्याप्त है, तब फिर अन्य अनेक गणधर क्यों होते हैं?

उत्तर – गणधर बनने के लिए 3 विशेषताओं की आवश्यकता अनिवार्य है।

1. तीर्थंकर देव के पादमूल में दीक्षित होना।
2. 63 ऋद्धियों के धारक होना।
3. गणधर बनने का पुण्योदय होना।

ये तीनों विशेषता सर्वप्रथम जिसमें होती हैं, वे तो प्रमुख गणधर होते हैं, उनकी आवश्यकता अनिवार्य होती है। ऐसे प्रमुख गणधर एक तीर्थंकर की सभा में एक ही होते हैं।

अन्य जिन मुनियों में उपर्युक्त विशेषताएँ होती हैं, वे भी सहज रूप से गणधर बन जाते हैं। इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं है।

जिसप्रकार तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि खिरने में गणधर की अनिवार्यता है; उसीप्रकार सामान्यकेवली की दिव्यध्वनि खिरने में भी गणधर देव की अनिवार्यता है। सुदर्शन चरित्र में लिखा है कि –

दिव्येनध्वनिना देवस्तदा सन्मार्गवृत्तये।
धर्मतत्त्वादि विश्वार्थानुवाचेति गुणान् प्रति।।8-77।।

अर्थ – भगवान सुदर्शन केवली ने मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति बढ़ाने के लिए दिव्यध्वनि के माध्यम से गणधरदेव को धर्म तथा समस्त तत्त्वार्थ का स्वरूप बता दिया।

इससे स्पष्ट है कि सामान्य केवली के भी गणधर होते हैं; क्योंकि गणधरों के अभाव में दिव्यध्वनि नहीं खिरती है; इसलिए तीर्थंकर केवली के समान ही सामान्य केवलियों के भी गणधर होते हैं। बस तीर्थंकर के समान समवशरण न होकर मात्र मानस्तम्भादि से सुशोभित गन्धकुटी होती है।

इसप्रकार दिव्यध्वनि का मर्म समझने में गणधर देव की अनिवार्य भूमिका है।

निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि तालु, दाँत, ओष्ठ तथा कंठ के हलन-चलन रूप व्यापार के बिना मुख से खिरती हुई भी दिव्यध्वनि सर्वांग से खिर रही है – ऐसा प्रतीत होता

है। यह दिव्यध्वनि अक्षर-अनक्षरात्मक रूप बीजपदों रूप गढ़ी हुई है। इन बीजपदों का मर्म गणधर देव अपनी बीज बुद्धि आदि ऋद्धियों के माध्यम से जानकर अन्तर्मुहूर्त में ही द्वादशांग की रचना करते हैं (गूँथते हैं) और सभा में स्थित जीवों की शंकाओं का समाधान भी करते हैं, परन्तु प्रथम तो सामान्य जीव तीर्थंकर देव की वाणी में से और उनकी शांत मुद्रा को देखकर स्वयं ही अपनी-अपनी योग्यतानुसार तत्त्व को अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं और मागध जाति के देव उस दिव्यध्वनि को एक योजन के भीतर दूर बैठे हुए व निकट बैठे हुए सभी जीवों को हीनाधिकता से रहित समान रूप से दिव्यध्वनि के प्रसारण का कार्य करते हैं; अतः दिव्यध्वनि को सर्वार्धमागधी भाषा रूप भी कहते हैं तथा तीर्थंकर देव का उपदेश होने के बाद भी सभी जीव अपनी-अपनी शंका गणधर देव से पूछते हैं और गणधर देव उन सभी शंकाओं का समाधान भी करते हैं। इसप्रकार सभी मंद कषाय युक्त भव्य जीव तीर्थंकर परमात्मा के आठवें दिव्यध्वनि नामक प्रातिहार्य से अत्यन्त लाभान्वित होते हैं।

(सवैया इकतीसा)

मोख मग दरसायो, चित में हरष छायो,
हित में सहाय – जिनवाणी जयवन्त है।
भ्रम भगे, ज्ञान जगे, सुख की घनेर लगे,
पढ़े सुने गुने ताकौ संसार नसन्त है।
अंधन को आँख सम, बधिर को कान सम,
स्यादवाद नय जाको मारग दिगन्त है।
वंदन करत 'समकित' सिर नावत कैं,
ऐसी दिव्यध्वनि तो अकाल में बसन्त है।।

विहार

जब तीर्थंकर देव के विहार करने का समय होता है, तब तीर्थंकर देव उसी स्थान पर अपनी पद्मासन अवस्था को छोड़कर खड्गासन अवस्था को धारण करते हैं और उसी समय इन्द्रगण अपने अवधिज्ञान से तीर्थंकर देव का विहार किस दिशा में होगा? यह जानकर इन्द्रगण उस दिशा में मार्ग की रचना करते हैं।

पवनकुमार जाति के देव 1 योजन तक के मार्ग को झाड़-बुहार कर अत्यन्त सुन्दर बनाते हैं। उनके पीछे मेघ कुमार जाति के देव सुगंधित जल की वर्षा करते हुए मार्ग को धूल रहित करते हैं। ऐसे मार्ग में सबसे आगे फहरती हुई ध्वजाएँ, अष्ट मंगल द्रव्य से युक्त 1000 आरों वाला एवं दिव्य प्रकाश से युक्त धर्मचक्र चलता है, इसके पीछे करोड़ों देवताओं के द्वारा बाजे बजाए जाते हैं, तत्पश्चात् तीर्थंकर 225 स्वर्णमय कमलों के ऊपर चलते हैं, तदुपरान्त गणधर आदि मुनिगण और श्रावक आदि चलते हैं। उन 225 कमलों की रचना 15 पंक्तियों एवं समकोण चतुर्भुज के आकार में होती है; इसप्रकार 225 स्वर्णमय कमलों के मध्य कमलों से 4 अंगुल ऊपर तीर्थंकर देव चलते हैं। जब तीर्थंकर देव आगे बढ़ते हैं, तब पीछे की एक पंक्ति का विलय होकर आगे की ओर एक नवीन पंक्ति की रचना होती है।

तीर्थंकर देव बिना पग (कदम) उठाए चलते हैं अर्थात् दोनों पग एक साथ ही रखते हैं। कुछ आचार्यों के मतानुसार तीर्थंकर देव पग रखकर भी चलते हैं अर्थात् एक के बाद एक पैर उठाकर चलते हैं।

प्रश्न – दो विरुद्ध बातें एक साथ कैसे हो सकती हैं कि पग उठाकर भी गमन करते हैं और बिना पग रखे भी गमन करते हैं।

उत्तर – दोनों कथन अपेक्षा सहित होने से सत्य हैं। यदि हम क्षायिक ज्ञान की अपेक्षा से देखें तो बिना पग उठाए गमन करते हैं और विहायोगति नाम कर्म के उदय की अपेक्षा से देखें तो पग रखकर भी गमन कर सकते हैं। इसप्रकार सापेक्षता द्वारा दोनों ही कथन सत्य हैं।

यहाँ कोई **प्रश्न** कर सकता है कि भगवान का विहार किस दिशा में होगा? इसका निर्णय कौन करता है?

इसका **समाधान** करते हुए कषाय पाहुड़ में आचार्य गुणधर देव लिखते हैं कि ''भव्य जीवों का भाग्य ही भगवान के विहार की दिशा का निर्णय करता है।'' जिन जीवों के भाग्य का उदय होता है, उसी दिशा में तीर्थंकर देव का विहार होता है, क्योंकि तीर्थंकर के मोह-राग-द्वेष और इच्छा का अभाव है; अतः 'कर्तृत्व रूप क्रिया' नहीं होती है, 'मात्र होने रूप क्रिया' ही होती है; इसलिए भव्य जीवों के भाग्य अनुसार ही विहार होता है।

जब तीर्थंकर का विहार प्रारंभ होता है, तब तो समवशरण विघटित हो ही जाता है; परन्तु जब तीर्थंकर देव समवशरण में विराजमान होते हैं, तब भी समवशरण का संघटन-विघटन होता रहता है; क्योंकि समवशरण की रचना कुबेर की पृथक् विक्रिया से होती है तथा विक्रिया अन्तर्मुहूर्त के बाद नियम से विघटित होती ही है; अतः तीर्थंकर देव की उपस्थिति में भी प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त के बाद नियम से विघटित होता ही है; बदलता रहता है। तत्त्वार्थ राजवार्तिक में आचार्य अकलंक देव भी लिखते हैं कि –

''उत्तर वैक्रियिकस्य जघन्य उत्कृष्ट श्चान्तर्मुहूर्तः।

प्रश्न – तीर्थंकर जन्म-नन्दीश्वरार्हदायतनादि पूजासु कथमिति चेत्?

उत्तर – पुनः पुनर्विकरणात् संतत्यविच्छेदः।[1]

अर्थ – उत्तर (पृथक्) वैक्रियिक का जघन्य व उत्कृष्ट दोनों काल अन्तर्मुहूर्त है।

प्रश्न – तीर्थंकरों के जन्मोत्सव, नंदीश्वर द्वीप की पूजन आदि के समय उत्तर वैक्रियिक शरीर अन्तर्मुहूर्त ही कैसे रहता है?

उत्तर – अन्तर्मुहूर्त के बाद नवीन-नवीन शरीर उत्पन्न होता है; वैसे ही उसी समय, उसी स्थान पर कुबेर अपनी पृथक् विक्रिया के द्वारा क्षणमात्र में नवीन समवशरण की रचना करते हैं।

प्रश्न – इन्द्र की आज्ञा से कुबेर समवशरण की रचना इस प्रकार की ही क्यों करते हैं, किसी अन्य प्रकार की क्यों नहीं करते हैं?

उत्तर – यह समवशरण की रचना कोई काल्पनिक रचना नहीं है; अपितु यह रचना लगभग अकृत्रिम चैत्यालयों के समान होती है। जिसप्रकार यहाँ समवशरण में 4 कोट, 5 वेदी, 8 भूमि, मानस्तम्भ, वापिका, कुण्ड, चैत्य वृक्ष, सिद्धार्थ वृक्ष, 10 ध्वजाएँ, 10 कल्प वृक्ष, 9 स्तूप, श्रीमण्डप, गंधकुटी, सिंहासन आदि अष्ट प्रातिहार्य और तीर्थंकर देव विराजमान होते हैं।

उसीप्रकार अकृत्रिम चैत्यालयों में भी कोट, वेदी, भूमि, मानस्तम्भ, वापिका, कुण्ड, चैत्य वृक्ष, सिद्धार्थ वृक्ष, कल्प वृक्ष, 9 स्तूप, 10 प्रकार की ध्वजाएँ, मण्डप, सिंहासन आदि अष्ट प्रातिहार्य और भगवान की प्रतिमा विराजमान होती हैं।

इसीलिए टोडरमलजी ने त्रिलोकसार ग्रंथ की भाषा टीका में अकृत्रिम जिन चैत्यालयों के वर्णन के पश्चात् समवशरण रचना का वर्णन किया है।

1. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अध्याय-2, श्लोक-49, वार्तिक-8

प्रश्न – अकृत्रिम चैत्यालयों में भगवान की प्रतिमा का आकार व वर्णादि किस प्रकार के होते हैं?

उत्तर – जैसे समवशरण में मूल तीर्थंकर देव के आकार व वर्णादि होते हैं; उसीप्रकार अकृत्रिम चैत्यालयों में भी भगवान के आकार वर्णादि होते हैं। त्रिलोकसार ग्रंथ में अकृत्रिम चैत्यालयों का वर्णन करते हुए वहाँ विराजमान जिन प्रतिमाओं का वर्णन इसप्रकार किया है कि –

सिंहासणादिसहिया विणीलकुंतल सुवज्जमयदंता।
विद्दुम अहरा किसलय सोहायर हत्थपायतल।।985।।

अर्थ – सिंहासन, छत्रादिक से संयुक्त हैं, मस्तक पर केश हैं, वज्रमयी दाँत हैं, मूँगा के समान रक्तवर्णीय ओष्ठ हैं, नवीन कोंपल के समान किसलय हैं, रक्तपने की शोभा से युक्त हस्त तल और पाद तल हैं, ऐसी जिनेन्द्र देव की प्रतिमा विराजमान होती है।

नंदीश्वर पूजन में पण्डित द्यानतरायजी भी इसीप्रकार लिखते हैं –

लाल नख मुख नयन श्याम अरु स्वेत हैं।
श्याम रंग भोंह सिर केश छवि देत हैं।।

इसप्रकार तीर्थंकर देव के आकार व वर्णादि होते हैं।

प्रश्न – समवशरण की रचना किस कर्म के उदय से होती है?

उत्तर – समवशरण की रचना तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से होती है। धवल पुस्तक 8, पृष्ठ-91 में इसप्रकार स्पष्ट किया है –

"जस्स इणं तित्थयरणामगोदकम्मस्स उदएण सदेवासुर-माणुसस्स लोगस्स अच्चणिज्जा वंदणिज्जा णमंसणिज्जा णेदारा धम्म-तित्थयरा जिणा केवलिणो हवंति।।42।।

अर्थ – जिन जीवों के तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का उदय होता है, वे

उसके उदय से देव, असुर और मनुष्य लोक के अर्चनीय, वंदनीय, नमस्करणीय, नेता, धर्म तीर्थ के कर्ता जिन व केवली होते हैं।।42।।

तित्थयरणामगोदकम्मस्सेत्ति एत्थ 'उदओ तेणेत्ति' दोण्णं पदाणमज्झाहारो कायव्वो अण्णहा अत्थाणुवलंभादो। जस्स जेसिं जीवाणं इणं एदस्स तित्थयरणामगोदकम्मस्स उदओ तेण उदएण सदेवासुर-माणुसस्स लोगस्स अच्चणिज्जा त्ति संबंधो कायव्वो।

चरु-बलि-पुप्फ-फल-गंध-धूव-दीवादीहि सगभत्तिपगासो अच्चणा णाम।

एदाहि सह अइंदधय-कप्परुक्ख-महामह-सव्वदो भद्दादि-महिमाविहाणं पूजा णाम।

तुहुं णिट्ठवियट्ठकम्मो केवलणाणेण दिट्ठसव्वट्ठा धम्मुम्मुहसिट्ठगोट्ठीए पुट्ठाभयदाणो सिट्ठपरिवालओ दुट्ठणिग्गहकरो देव त्ति पसंसा वंदणा णाम।

पंचहि मुट्ठीहि जिणिंदचलणेसु णिवदणं णमंसणं।
धम्मो ण म सम्मद्दंसणतित्थस्स-णाण-चरित्ताणि।
एदेहि संसार-सायरं तरंति त्ति एदाणि तित्थं।
एदस्स धम्म-कत्तारा जिणा केवलिणो णेदारा च भवंति।

अर्थ – सूत्र में तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का यहाँ 'उदय' और 'उससे' इन दोनों पदों का अध्याहार करना चाहिए, अन्यथा अर्थ की उपलब्धि नहीं होती है। जिसके अर्थात् जिन जीवों के इस तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का उदय होता है, वे उसके उदय से देव, असुर एवं मनुष्यों से परिपूर्ण लोक से अर्चनीय होते हैं, ऐसा संबंध करना चाहिए।

चरु, बलि (नैवेद्य), पुष्प, फल, गंध, धूप, दीप आदिकों से अपनी भक्ति प्रकाशित करने का नाम **अर्चना** है। इनके साथ इन्द्रध्वज, कल्पवृक्ष, महामह, सर्वतोभद्र इत्यादि महिमा विधान को **पूजा** कहते हैं।

आप अष्ट कर्मों को नष्ट करने वाले, केवलज्ञान से सब पदार्थों को देखने वाले, धर्मोन्मुख शिष्यों की गोष्ठियों में दान देने वाले, शिष्ट परिपालक और दुष्ट निग्रहकारी देव हैं, ऐसी प्रशंसा करने का नाम **वंदना** है।

पाँच मुष्टियों अर्थात् अंगों से जिनेन्द्र देव के चरणों में गिरने को **नमस्कार** कहते हैं।

धर्म का अर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है, चूँकि इनसे संसार सागर को तरते हैं, इसलिए इन्हें **तीर्थ** कहा जाता है।

इस धर्म तीर्थ के कर्ता जिन, केवली और नेता होते हैं।''

प्रश्न – उक्त उद्धरण से कैसे सिद्ध हो रहा है कि समवशरण की रचना तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से होती है?

उत्तर – धवला के उक्त उद्धरण में कहा गया कि अर्चनादि देव, असुर और मनुष्य करते हैं। तथा समवशरण में भी देव, असुर, मनुष्य (तिर्यंच) अर्चनादि करते हैं। इनके द्वारा अर्चना, पूजा, वंदना, नमस्कार किस प्रकार किया जाता है, उसे भी स्पष्ट किया है कि चरु, बलि (नैवेद्य), पुष्प, फल, गंध, धूप आदि के द्वारा अर्चना करते हैं। एन्द्रध्वज, कल्पवृक्ष, महामह और सर्वतोभद्र इत्यादि महिमा विधान के द्वारा पूजा करते हैं। ये सब (पुष्प, गंध, कल्पवृक्ष आदि) समवशरण में होते हैं।

सर्वतोभद्र महिमा विधान में अकृत्रिम जिन चैत्यालय आते हैं और समवशरण की रचना भी अकृत्रिम जिन चैत्यालयों के समान ही होती है।

निष्कर्ष यही है कि तीर्थंकर देव के तीर्थंकर प्रकृति नाम गोत्र कर्म के उदय से मनुष्यादि द्वारा समवशरण रूपी सामग्री से तीर्थंकर देव की अर्चना, पूजा, वंदना, नमस्कार आदि किया जाता है। इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म के उदय से समवशरण की रचना होती है।

प्रश्न – यहाँ आप तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म क्यों कह रहे हो, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति तो नाम कर्म की प्रकृति है, गोत्र कर्म की नहीं, फिर नाम के साथ गोत्र क्यों कहा है?

उत्तर – इस प्रकार का प्रश्न धवला पुस्तक 8, खण्ड 3, में भी उठाया है। जो मूलतः इसप्रकार है –

''**कथं तित्थयरस्स णामकम्मावयवस्स गोदसण्णा?**

ण, उच्चागोदबंधाविणाभावित्तणेण तित्थयरस्स वि गोदत्त-सिद्धीदो।

शंका – नाम कर्म के अवयव रूप तीर्थंकर कर्म की गोत्र संज्ञा कैसे संभव है?

उत्तर – यह शंका ठीक नहीं है; क्योंकि उच्च गोत्र कर्म के बन्ध का अविनाभावी होने से तीर्थंकर कर्म को भी गोत्रत्व सिद्ध है।''

इसप्रकार तीर्थंकर प्रकृति नाम-गोत्र कर्म के उदय से इन्द्र की आज्ञा से कुबेर के द्वारा अकृत्रिम जिन चैत्यालय के समान 12 योजन विस्तृत विशाल समवशरण की रचना हुई। जिसकी आठवीं श्री मण्डप भूमि में भव्य जीव तीर्थंकर देव के दर्शन पाकर और उनकी दिव्यध्वनि को सुनकर कृतार्थ होते हैं।

(वीर)

नहीं बदलकर नित्य बदलना यह स्वभाव की खूबी है।
नित्य बदलकर नहीं बदलना यह भी बात बखूबी है।।
वस्तु नित्य है अर अनित्य है नित्यानित्य जरूरी है।
स्याद्वाद की अद्भुत महिमा जिनशासन की खूबी है।। ८।।

– क्रमनियमितपर्याय

समवशरण की रचना को जानने से लाभ –

1. समवशरण का वर्णन जानना, मात्र जानकारी नहीं है; अपितु ध्यान है, धर्मध्यान है। अरहंत भगवान के स्वरूप का विचार करना रूपस्थ धर्मध्यान है; अतः समवशरण का वर्णन भी रूपस्थ धर्मध्यान के अन्तर्गत ही आता है। लाभ यही है कि समवशरण का वर्णन जानते हुए हम ध्यान ही कर रहे हैं और ध्यान से साध्य की सिद्धि होती है।

2. जिनालय में हम जो भी कार्य करते हैं, उन कार्यों को करने के लिए हमें आगम का आश्रय मिल जाता है, जिससे उन कार्यों को करने में उपयोग की विशेष स्थिरता होती है और विशेष आनन्द की प्राप्ति होती है। जैसे –

● जिनालय में प्रवेश करते समय सर्व प्रथम हम अपने चरणों को धोते हैं; इसीप्रकार समवशरण में भी जीव मानस्तम्भ में प्रवेश करने से पूर्व उसके 3 कोटों के तोरणद्वारों के सामने वापिकाओं के तटों पर स्थित कुण्ड होते है, उनमें अपने चरणों को धोकर ही प्रवेश करते हैं।

● जिनालयों के द्वारों पर द्वारपाल खड़े होते हैं और द्वारों के ऊपर अष्ट मंगल द्रव्य लटके रहते हैं। इसका भी यही कारण है कि समवशरण में गोपुरद्वारों पर द्वारपाल, अष्ट मंगल द्रव्य आदि होते हैं।

● दर्शन करके प्रदक्षिणा देने के बाद पूजनादि करते हैं इसका भी यही कारण है कि समवशरण की आठवीं भूमि में तीर्थंकर देव के दर्शन करके पीठों पर चढ़कर प्रदक्षिणा देकर पूजनादि करते हैं।

● प्रदक्षिणा देने का भी यही कारण है कि तीर्थंकर भगवान चतुर्मुखी होते हैं; अतः चारों दिशाओं में दर्शन करने के लिए प्रदक्षिणा देते हैं।

● तथा 3 प्रदक्षिणा देने का कारण भी यही है कि तीन बहुवचन का वाचक है, भगवान की मुद्रा इतनी मनोहर रमणीय, आकर्षक होती

है कि उनकी मुद्रा को बार-बार देखते रहे – ऐसी भावना होती है और 'तीन' बहुवचन का वाचक है अर्थात् हमने भगवान की मनोहर मुद्रा को चारों दिशाओं में अनेक बार देख लिया है।

● प्रदक्षिणा का क्रम क्या होना चाहिए इसका ज्ञान भी समवशरण को जानने से ही होता है। पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर यही प्रदक्षिणा का क्रम है।

● भगवान जहाँ विराजमान होते हैं। वहाँ वेदी, कमल और चारों ओर अष्ट प्रातिहार्य बनाते हैं, उनका कारण भी यही है कि समवशरण में 'गन्धकुटी के प्रतीक रूप वेदी होती है, सिंहासन के प्रतीक रूप कमल होता है तथा जैसे समवशरण में तीर्थंकर देव के चारों ओर अष्ट प्रातिहार्य होते हैं; उसीप्रकार जिनालय में भगवान के चारों ओर अष्ट प्रातिहार्य बनाते हैं।

4. इसप्रकार समवशरण की रचना को जानने से अब तक हम जो 'कुलक्रम अपेक्षा धर्मधारक व्यवहाराभासी' बने हुए थे; उसका त्याग होता है; क्योंकि अब हम कुलक्रम से क्रियाओं को नहीं करेंगे; अपितु तर्क और आगम के आधार से करेंगे।

5. तीर्थंकर देव के बहिरंग वैभव का ज्ञान होता है और वस्तु के सच्चे स्वरूप का ज्ञान होना ही सबसे बड़ा लाभ है।

6. तीर्थंकर देव की विशेष महिमा आती है; क्योंकि जिनके पास तीनों लोकों का उत्कृष्ट वैभव है, फिर भी उससे रंच मात्र भी ममत्व नहीं है – यह विचार कर हमें अपने अल्प (तुच्छ) परिग्रह से ममत्व छोड़ने और समभाव धारण करने की प्रेरणा मिलती है।

7. आदिपुराणकार लिखते हैं –

तथाप्यनूद्यते किंचिदस्य शोभासमुच्चयः।
श्रुतेन येन संप्रीतिं भजेद् भव्यात्मनां मनः।।80।।[1]

1. आदिपुराण – 1/80

समवशरण की वास्तविक रचना का वर्णन करने में कोई समर्थ नहीं है, फिर भी उसकी शोभा का थोड़ा-सा वर्णन करता हूँ; क्योंकि इसके सुनने से भव्य जीवों का मन प्रसन्न होता है।

8. जिस कार्य में प्रसन्नता होती है, उसमें उपयोग भली-भाँति रमता है, उपयोग की सूक्ष्मता होती है।

9. सबसे बड़ा लाभ यही है कि हम भव्य हैं या अभव्य इसका स्थूल निर्णय भी हो जाता है। इसका वर्णन पढ़ने से जिसका मन प्रसन्न हुआ, वह भव्य और जिसका मन प्रसन्न नहीं हुआ, वह अभव्य जीव है और जो भव्यकूट स्तूप के दर्शन करने में समर्थ हो, वह भव्य जीव है तथा जो भव्य कूट स्तूप के दर्शन करने से अंधा हो जाए, वह अभव्य जीव है।

इसप्रकार समवशरण की रचना को जानने से अनेक लाभ होते हैं। हम तीर्थंकर देव के द्वारा बताए गए तत्त्वज्ञान को पाकर कृतार्थ हो – इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।

जिन-स्तवन

देख छवि सौम्य मानो मेरा ही भविष्य रूप।
मिलके तुमसे आज मेरा कण-कण पवित्र है।। १।।
मेरी निधि मुझमें है, 'समकित' दर्शाए दियो।
आप सम कोई जग में मेरा नहीं मित्र है।। २।।
पावन मन भावन निज रूप जिन में दिखता है।
मानों लगता सामने मढ़ा मेरा ही चित्र है।। ३।।
वीतराग मूरत मुख शांत लीन अंतर में।
निज के आनन्द की तो बात कुछ विचित्र है।। ४।।

वर्तमान समय में समवशरण की रचना

तीर्थंकर भगवन्तों के गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और मोक्ष – ये पाँच कल्याणक होते हैं; परन्तु सभी तीर्थंकरों के पाँच कल्याणक हों, ऐसा कोई नियम नहीं है। किन्हीं तीर्थंकरों के दो कल्याणक, किन्हीं के तीन कल्याणक और किन्हीं के पाँच कल्याणक होते हैं; परन्तु भरत व ऐरावत क्षेत्र के सभी तीर्थंकरों के पाँच कल्याणक ही होते हैं।

अतः तीर्थंकर देव की प्रतिमा पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव की प्रक्रिया द्वारा विराजमान की जाती है। पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव की प्रक्रिया में केवलज्ञान कल्याणक के दिन तीर्थंकर देव के समवशरण की रचना भी की जाती है।

इस रचना में जो भूमियों की संरचना होती है, वह एक के ऊपर एक होती है, समतल नहीं होती है; परन्तु मूल में सभी भूमियों की संरचना समतल ही होती है।

कुछ विद्वान अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि प्रतिष्ठा महोत्सव में उपस्थित सभा को संपूर्ण समवशरण दिखलाई नहीं देता है; अतः भूमियों की रचना एक के ऊपर एक करते हैं; पर वे तार्किक विद्वान यह भूल जाते हैं कि प्रदर्शन के चक्कर में हम आगम में वर्णित मूल रचना का विरोध कर रहे हैं। पंच दिवसीय इस कार्यक्रम में इस प्रकार की रचना हो तो कोई अधिक विरोध नहीं है; क्योंकि यह तात्कालिक (कुछ समय के लिए की गई) रचना है।

परन्तु समवशरण मंदिरों में भूमियों की संरचना 'एक के ऊपर एक' इस रूप में तो नहीं होनी चाहिए। हाँ, वर्तमान में ऐसे मंदिर देखने को क्वचित् मिल जाते हैं; जिनमें भूमियों की संरचना उक्त प्रकार से हैं; तथापि वे रचनाएँ भी पूर्णतः आगम के अनुसार नहीं होती हैं। जैसे –

• समवशरण के प्रवेश गोपुरद्वारों पर तोरण, नव निधि, अष्ट मंगल द्रव्य, नाट्यशाला और धूपघटों की रचना नहीं होती है।

• एक महावीथी में कुल 9 गोपुर द्वार होते हैं; परन्तु यहाँ मात्र एक मुख्य गोपुर द्वार को ही बनाते हैं, अन्य 8 द्वारों को छोड़ देते हैं।

• महावीथी में स्थित 9 स्तूपों की रचना नहीं होती है।

• महावीथी में मानस्तम्भ की रचना तो होती है; परन्तु उसमें वापिका, कुण्ड, गोपुरद्वार युक्त 3 कोट की रचना नहीं होती है। मानस्तम्भ के ऊपर 3 छत्र भी नहीं होते हैं।

• कोट और वेदी दोनों की रचना एक-सी होती है।

• उपवन भूमि की चारों दिशाओं में विभिन्न वनों की रचना नहीं होती है, चारों दिशाओं में एक-सी रचना होती है।

• ध्वज भूमि में भी 10 प्रकार के ध्वज नहीं होते हैं।

• आठवीं श्रीमण्डप भूमि में तो मूल मण्डप की रचना ही नहीं होती है और गणधर किस प्रकार सभा में बैठते हैं, उसकी भी यथावत् रचना नहीं होती है।

• गंधकुटी की पीठिकाओं को गंधकुटी से भी बड़ा बना दिया जाता है और कहीं-कहीं तो गंधकुटी बनाते ही नहीं है।

इसप्रकार वर्तमान समय में छोटे-बड़े अंतर के साथ अनेक रचनाएँ हैं; परन्तु हमारा यह कर्तव्य है कि हम जो धर्म कार्य करें या रचनादि को बनाएँ, उनकी रचना आगम के अनुसार ही हो।

अतः हम सभी अपने कर्तव्य को भली-भाँति समझकर उसका निर्वाह करें – यही जिनवाणी के प्रति हमारी विनय है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. **आदिपुराण** : आचार्य जिनसेन (प्रथम); भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
2. **अष्टसहस्त्री** : आचार्य विद्यानन्दी; निर्णयसागर प्रकाशन, बम्बई।
3. **योगसार** : आचार्य योगिन्दु देव; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।
4. **वसुनन्दि प्रतिष्ठा पाठ** : आचार्य वसुनन्दि।
5. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका** : पं. सदासुखदासजी; पं. सदासुख ग्रन्थमाला, अजमेर।
6. **कषायपाहुड़** : आचार्य गुणधर; मंत्री साहित्य विभाग।
7. **क्रिया कलाप** : पं. पन्नालालजी (संपादक); कपूरचन्द जैन, महावीर प्रेस।
8. **गोम्मटसार जीवकाण्ड** : आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती; आचार्य शिवसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला।
9. **जीवतत्त्व प्रदीपिका (गोम्मटसार टीका)** : केशवर्णीजी; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
10. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश** : जैनेन्द्रजी वर्णी; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
11. **छांदोग्योपनिषद्** : रायबहादुर बाबू जालिमसिंह (संपादक); गीता प्रेस, गोरखपुर।
12. **जय धवल** : आचार्य जिनसेन (प्रथम); मंत्री साहित्य विभाग।
13. **जयसेन प्रतिष्ठा पाठ** : आचार्य जयसेन; सेठ हीराचन्द नेमचंद दोशी, सोलापुर।
14. **ज्ञानार्णव** : आचार्य शुभचन्द्र; जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर।
15. **तत्त्वार्थ राजवार्तिक** : आचार्य अकलंक देव; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
16. **तत्त्वार्थसार (तत्त्वार्थसूत्र टीका)** : पं. चेतनदासजी; दीप प्रिंटर्स, मोहनलाल जैन, नई दिल्ली।

17. **तिलोय पण्णत्ति** : आचार्य यतिवृषभ देव; जैन संस्कृति संरक्षण संघ, सोलापुर।
18. **त्रिलोकसार** : आचार्य नेमिचन्द्र; श्री माणिक्यचन्द्र-दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति।
19. **त्रिलोकसार टीका** : श्री मन्माधव-चन्द्रत्रैविध देव; श्री माणिक्यचन्दर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति।
20. **दर्शनपाहुड़** : आचार्य कुन्दकुन्द; पं. टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट, जयपुर।
21. **धवल** : आचार्य वीरसेन स्वामी; जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर।
22. **धर्म संग्रह श्रावकाचार** : पं. मेधावीजी; जैनसभा, गुड़गाँव (हरियाणा)।
23. **नियमसार** : आचार्य कुन्दकुन्द; पं. टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट, जयपुर।
25. **न्याय विनिश्चय विवरण** : आचार्य वादिराज सूरि; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
26. **पद्मपुराण** : आचार्य रविषेण; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
27. **पंचास्तिकाय** : आचार्य कुन्दकुन्द; पं. टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट, जयपुर।
28. **प्रतिष्ठा सारोद्धार** : पं. प्रवर आशाधरजी; श्री जैनग्रन्थ-उद्धारक कार्यालय।
29. **मुनिसुव्रत काव्य** : कविवर अर्हद्दास; श्री जैन-सिद्धान्त भवन, आरा।
30. **मोक्षमार्गप्रकाशक** : आ. कल्प पं. टोडरमलजी; पं. टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट, जयपुर।
31. **समवशरण स्तोत्र** : आचार्य विष्णुसेन; श्री स्मृति मंदिर प्रकाशन, अहमदाबाद।
32. **सुदर्शन चरित्र** : श्री विद्यानन्दि; भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्।
33. **पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व** : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल; पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।
34. **हरिवंशपुराण** : आ. जिनसेनस्वामी (द्वितीय); भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।

विद्वानों के अभिमत

● डॉ. संजीवकुमारजी गोधा, जयपुर

अब तक की अपूर्व कृति – हमारे टोडरमल महाविद्यालय के होनहार स्नातक अमनजी जैन लोनी द्वारा लिखी गई यह 'समवशरण रचना वर्णन' नामक पुस्तक अपने विषय को सर्वांगीण कृति है, जिसे इन्होंने एक लघु शोध प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत लेखन में इनकी विशेष मेहनत स्पष्ट रूप से झलकती है।

अब तक समवशरण के बारे में आगमानुसार ऐसी व्यवस्थित कृति देखने में नहीं आई। जिसे भी समवशरण के बारे में विशेष गहराई से जानने की जिज्ञासा हो, उसके लिये यह महत्त्वपूर्ण रचना बन गई है। पुस्तक में बनाये गये रंगीन चित्रों ने विषय को समझाने व स्पष्ट करने में चार चाँद लगा दिये हैं। इस सुन्दर शोध कृति के लिये पण्डित अमन जैन को हार्दिक शुभकामनाएँ।

● डॉ. अरुणजी बण्ड, जयपुर

दिव्यध्वनि जैन आगमों व धर्म का आधार है। वह दिव्यध्वनि जिस स्थान पर खिरती है, वह स्थान कितना अलौकिक होता है – यह समवशरण वर्णन पढ़ने से ज्ञात होता है। इसलिए समवशरण का वर्णन पढ़ना चाहिए। तीर्थंकर पुण्य व पवित्रता के सर्वोच्च शिखर होते हैं। धर्म के आधार होते हैं। उनके पुण्यप्रताप से समवशरण की रचना होती है।

तीर्थंकर की धर्मसभा में भेदभाव नहीं होता है। वहाँ पहुँचने वाले जीवों के मन में भी भेदभाव का अभाव हो जाता है। वहाँ देव, मनुष्य और तिर्यंच तीन गति के जीव अपनी-अपनी सभा में बैरभाव के अभावपूर्वक भगवान की दिव्यध्वनि का अमृतपान करते हैं। सबको समान अवसर होने के कारण उस सभा का नाम समवशरण पड़ा है। यह अनादि निधन संज्ञा है। अथवा उसे समवशरण कहते हैं, उसका अर्थ यह है कि जहाँ सबको समान रूप से शरण है।

अमन जैन ने अथक शास्त्र श्रम करके समवशरण का माहात्म्य बताने का प्रयास किया है।

शास्त्राधारित इस वर्णन को पढ़ने से स्वाध्याय का लाभ और विशेषज्ञान की प्राप्ति होगी। इसलिए इसका स्वाध्याय अवश्य करें।

● डॉ प्रवीणकुमारजी शास्त्री (प्राचार्य), ध्रुवधाम

श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर के प्रतिभाशाली छात्रों में से एक अमन जैन, लोनी (दिल्ली) द्वारा लिखित कृति 'समवशरण रचना वर्णन' सभी के द्वारा पठनीय है।

जिनेन्द्र भगवान के दिव्य समवशरण की अद्भुत संरचना का विस्तृत वर्णन इस कृति में किया गया है। कृति की विशेषता यह भी है कि यह एक शोधपरक अनेक शास्त्रों का आधार लेकर लिखी गई है।

मैंने इस कृति को पूर्णतः धैयपूर्वक सांगोपांग पढ़ा है, इसमें किसी भी तरह की कमी दिखाई नहीं देती। सभी पाठक इसका अवश्य ही लाभ उठावें।

● ब्र. कल्पना दीदी, सागर

नवोदित शोधार्थी भाई श्री अमन जैन शास्त्री ने अथक श्रम से उपलब्ध आगम का आलोडन कर प्रस्तुत संकलित कृति जिज्ञासु-बंधुओं के समक्ष प्रस्तुत की है। मैंने इसे आद्योपांत पढ़ा है। इसमें विवादस्थ बिंदुओं को भी स्याद्वाद-शैली द्वारा आगम के परिपेक्ष्य में स्पष्ट किया गया है। सभी को इसे पढ़कर समवशरण की संरचना का परिज्ञान करना चाहिए।

पंच मेरू, नंदीश्वर द्वीप आदि की संरचना पर भी इसीप्रकार से कार्य होना चाहिए।

समादरणीय भाईश्री के उज्ज्वल, सुख-शांति-संपन्न जीवन की शुभ-कामनाओं के साथ आशा करती हूँ कि वे इसीप्रकार अपने समय, शक्ति, बुद्धि आदि का उपयोग स्व-पर कल्याणकारी शोधकार्यों में करते हुए आत्म-हितकारी कार्यों में सतत् संलग्न रहेंगे।

● पण्डित पीयूषजी शास्त्री, जयपुर

टोडरमल सिद्धान्त महाविद्यालय के मेधावी छात्र अमन जैन ने स्वान्तः सुखाय 'समवशरण' विषय का अनेक शास्त्रों के आधार से अध्ययन कर जो नोट्स बनायें; इससे समवशरण की रचना के संदर्भ में आगम मान्यता और प्रचलित धारणाओं में बहुत अन्तर है ऐसा ख्याल आया।

सभी लोग समवशरण का आगमानुसार क्या स्वरूप है इससे परिचित हो इस भावना से इसे पुस्तकाकार प्रकाशित होना चाहिए ऐसी भावना हुई और सहज ही इस विषय पर संभवतः पहली पुस्तक प्रकाशन होने जा रही है; यह प्रसन्नता का विषय है इसमें भी अधिक प्रसन्नता इस बात को लेकर है कि इसका लेखक टोडरमल महाविद्यालय का सद्यप्रसूत स्नातक है।

आदरणीय बाबूभाई आदि विद्वानों ने जिस विचार के साथ महाविद्यालय की स्थापना की समाज के लोगों ने उसमें भरपूर सहयोग किया वह सब फलीभूत होता देखना निश्चय ही आह्लादकारी है।

यह एक ऐसी पुस्तक है जो सभी स्वाध्यायप्रेमी/जिज्ञासु जनों की लाइब्रेरी में अवश्य होना चाहिए।

जैनशासन का श्रुतसेवा में अमन जैन अत्यन्त प्रभावक बनेंगे, ऐसी सुभाशा के साथ।

● डॉ. ज्योतिजी सेठी

पं. अमनजी शास्त्री द्वारा प्रस्तुत 'समवशरण रचना वर्णन' अत्यन्त ही शोध-खोजपूर्ण लेख है। समवशरण के सन्दर्भ में इसमें महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ दी गई हैं। समवशरण रचना की बारीकियों को जिनागम के मंथन से प्राप्त कर सर्वसाधारण को सुलभ कर दिया है। समवशरण संबंधी चित्रों को भी यथासंभव आगमानुसार सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करने का अनूठा प्रयास किया गया है।

यह अत्यन्त उपयोगी, रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक रचना है। इसको पढ़ने से भगवान के समवशरण की दिव्यता-भव्यता-अतिशयता ख्याल में आती है। जिससे जिनका ऐसा समवशरण होता है, उन तीर्थंकर परमात्मा एवं उनके केवलज्ञानादि अनन्त गुणों की महिमा जागृत होती है।

● पं. विक्रांतजी शाह, सोलापुर

तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि के वक्त परम तीर्थंकर का जैसा महत्त्व हमारे जीवन में है, वैसा ही महत्त्व तीर्थंकर देव के समवशरण का है। जनमानस में समवशरण के रचना की जिज्ञासा आज भी अखंडरूप से बनी हुई है। इसी का फल है कि 'समवशरण विधान', 'कल्पद्रुम विधान' 'श्री अर्हद्चक्र विधान' इत्यादि विधानों की रचना की जा रही है। इसी जिज्ञासारूपी भूख को शमन करने का अनूठा प्रयास पं. अमनजी जैन ने अपनी ''समवशरण रचना वर्णन' इस कृति में किया है।

'समवशरण रचना वर्णन' इस कृति में अलग-अलग ग्रंथों के आधार से समवशरण का वास्तु (रचना) जैसे - ८ भूमि, वेदी, कोट, प्रातिहार्य, दिव्यध्वनि इत्यादि एवं इन रचनाओं की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, आकार, रंग एवं उनके होने का महत्त्व वर्णित किया है।

इसीलिए यह कृति समाज के लिए ज्ञानवर्धिनी, मोक्षमार्गदर्शिनी एवं शाश्वत सुख दायिनी है; अतः यह सांग्रहीक कृति आबाल-गोपाल सभी के लिए अवश्य पठनीय है।

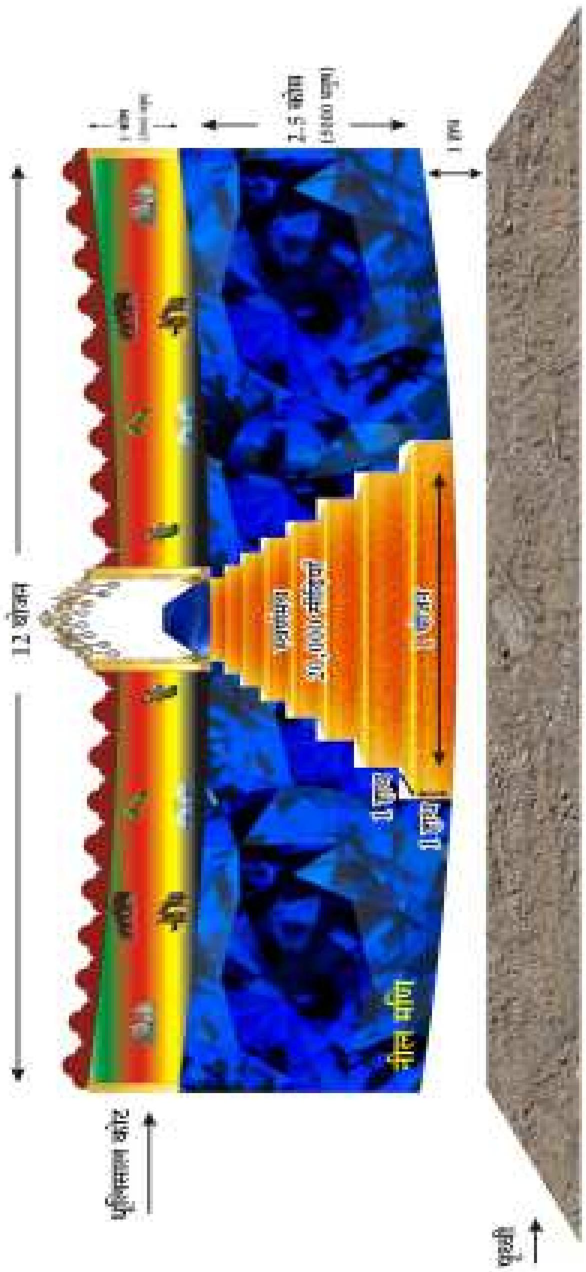

इन्द्रनील मणिमय स्कन्ध

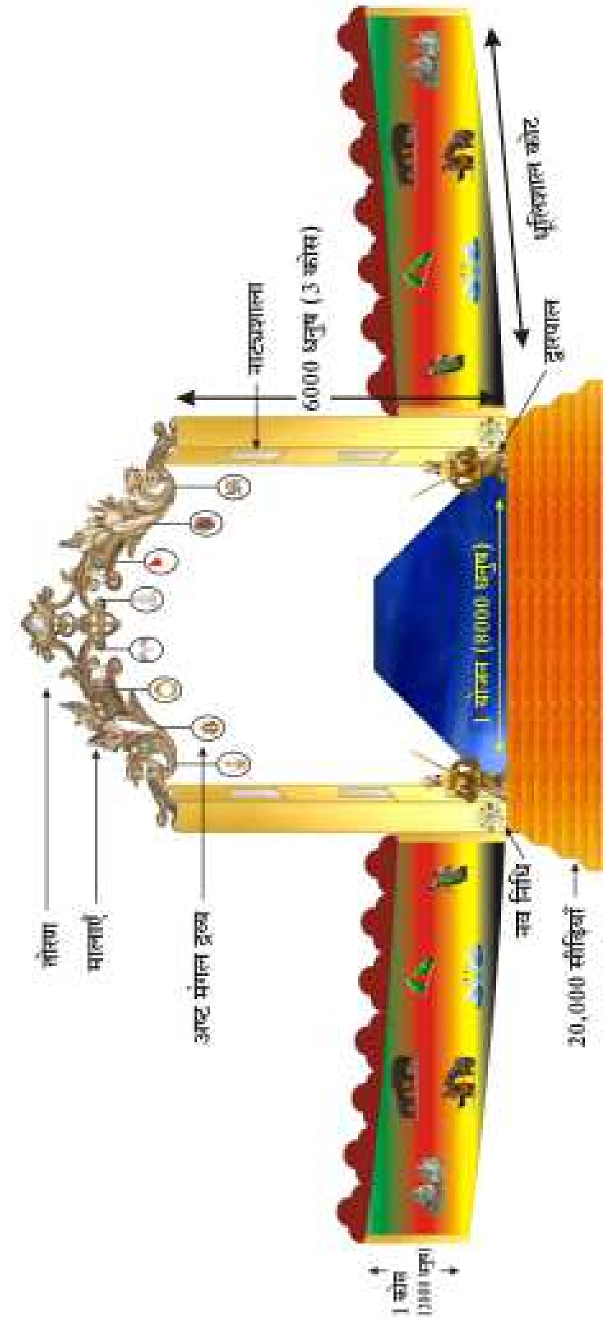

गोपुरद्वार

अष्ट मंगल द्रव्य

नव निधि और उनका फल

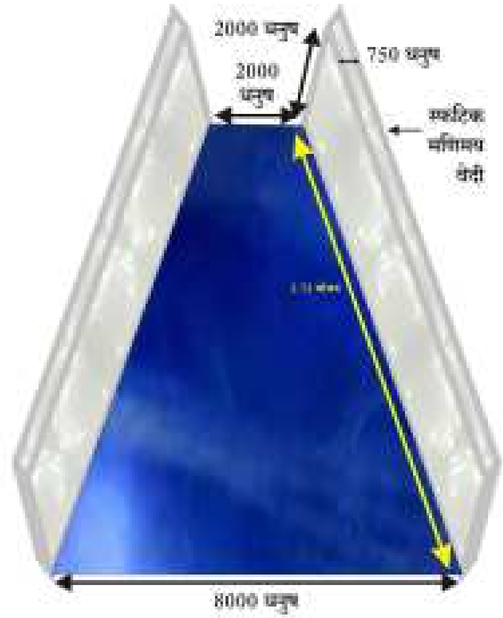

महावीथी

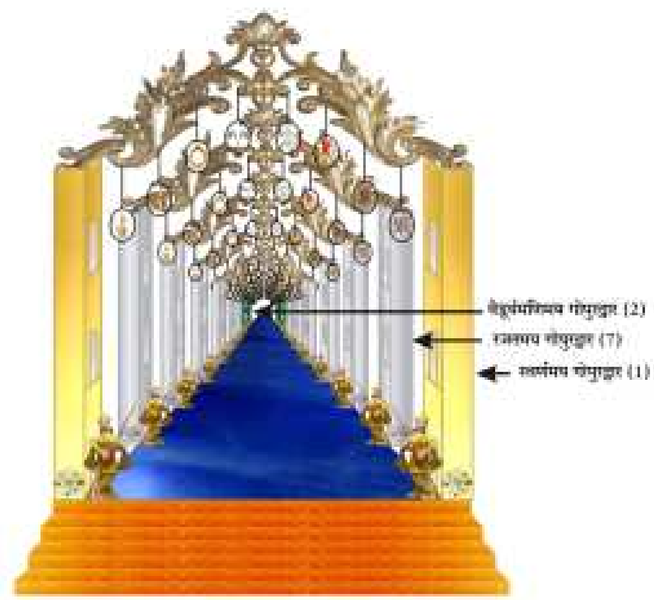

द्वारों के वर्ण एवं महावीथी

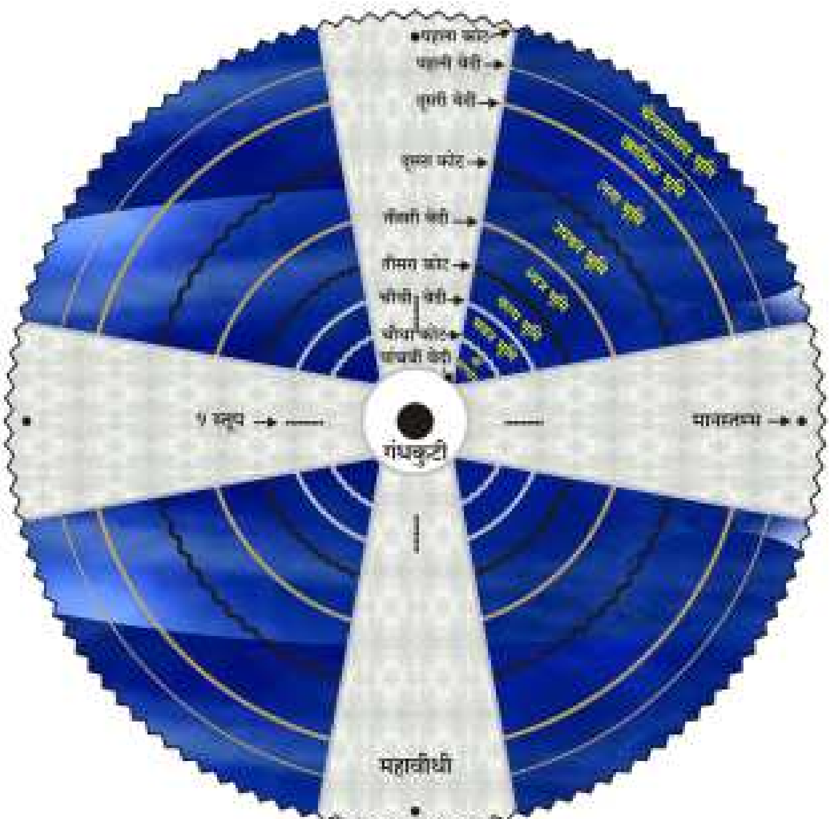

8 भूमि, 5 वेदी, 4 कोट

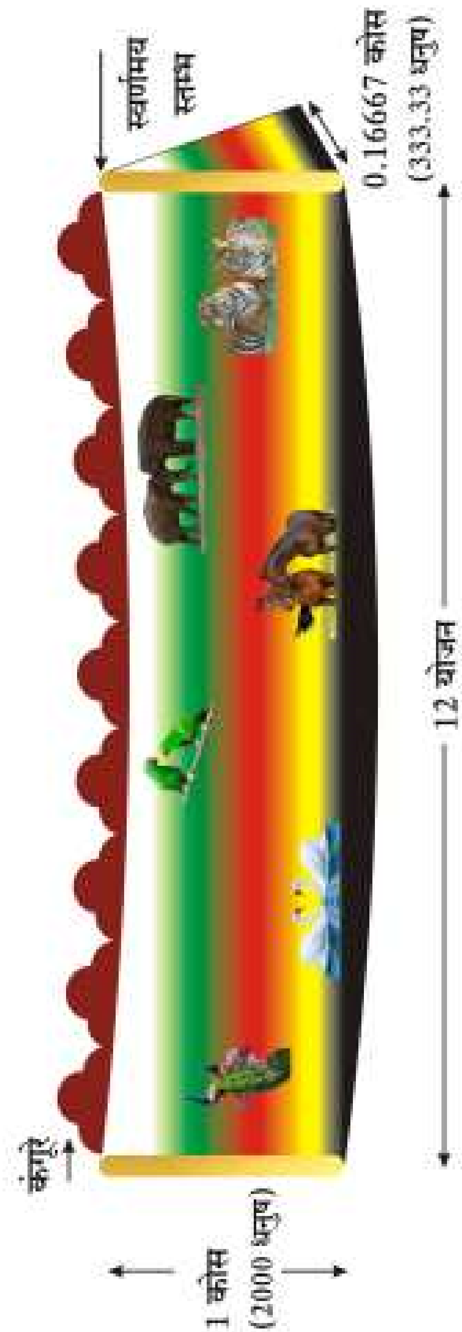

प्रथम धूलिसाल कोट

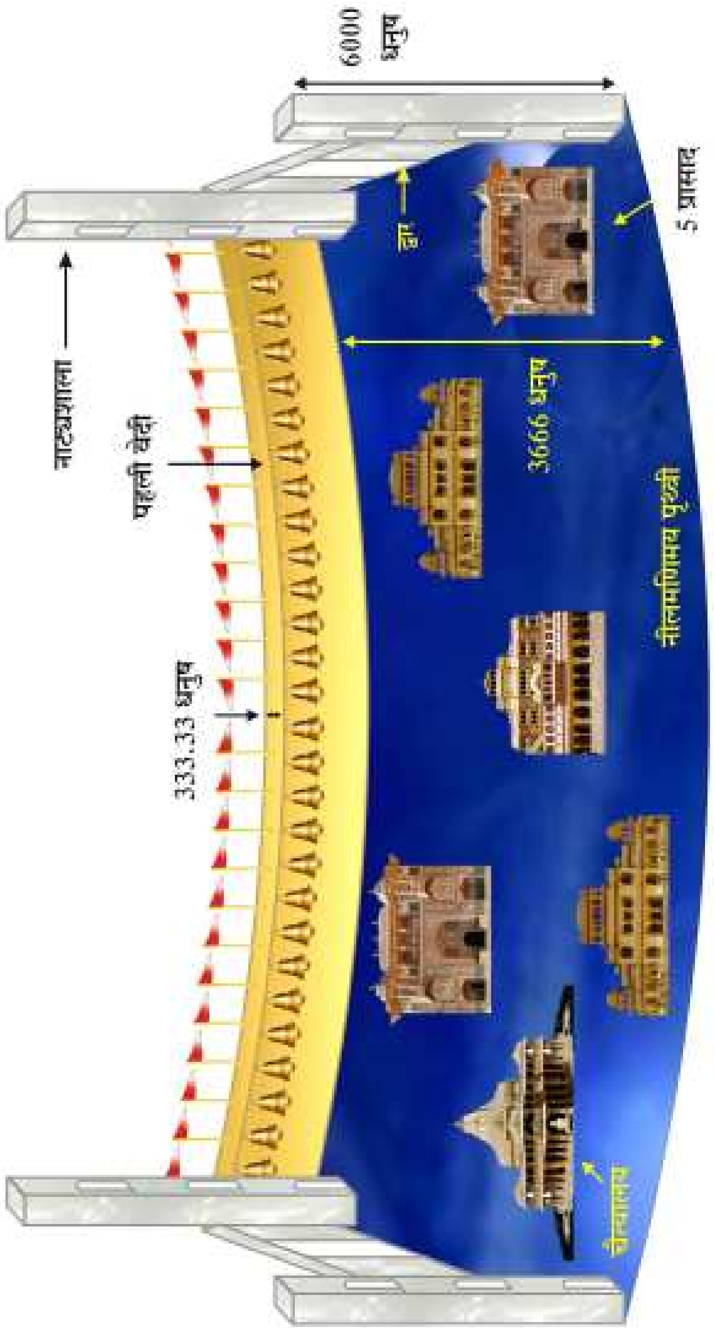

पहली चैत्यप्रासाद भूमि

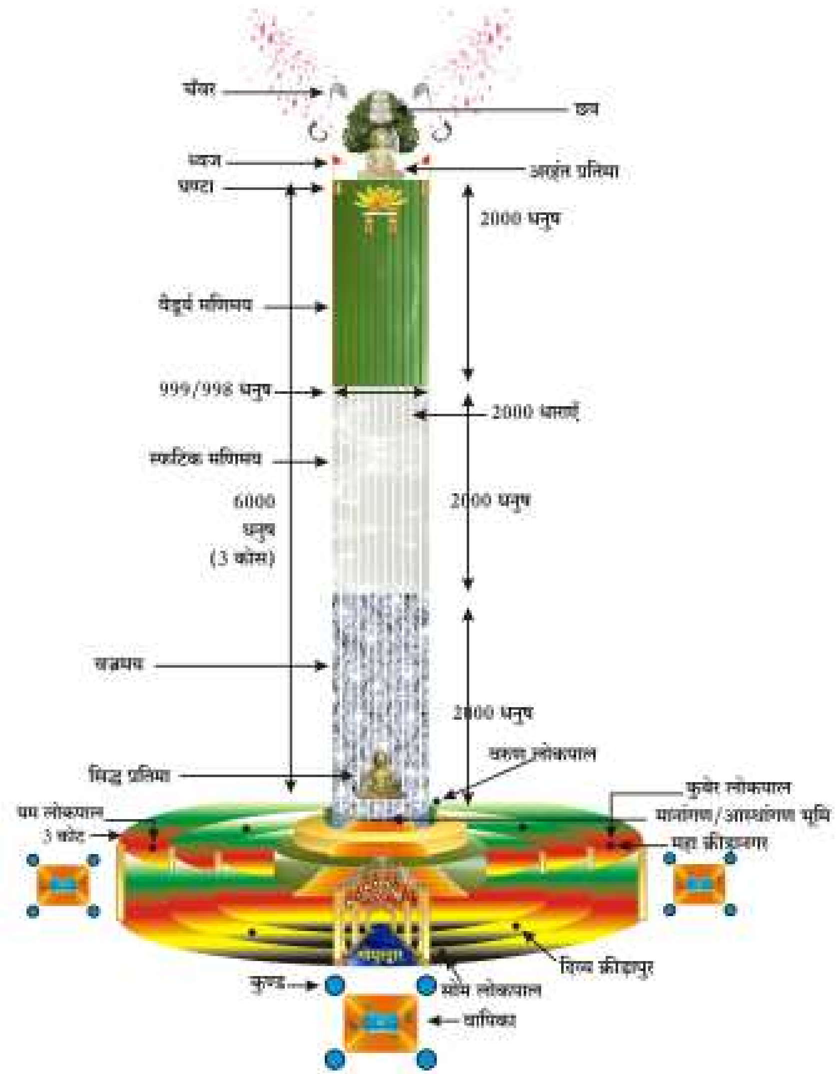

मानस्तम्भ

अरहंत प्रतिमा

सिद्ध प्रतिमा

वापिका

वेदी

दूसरी खातिका भूमि

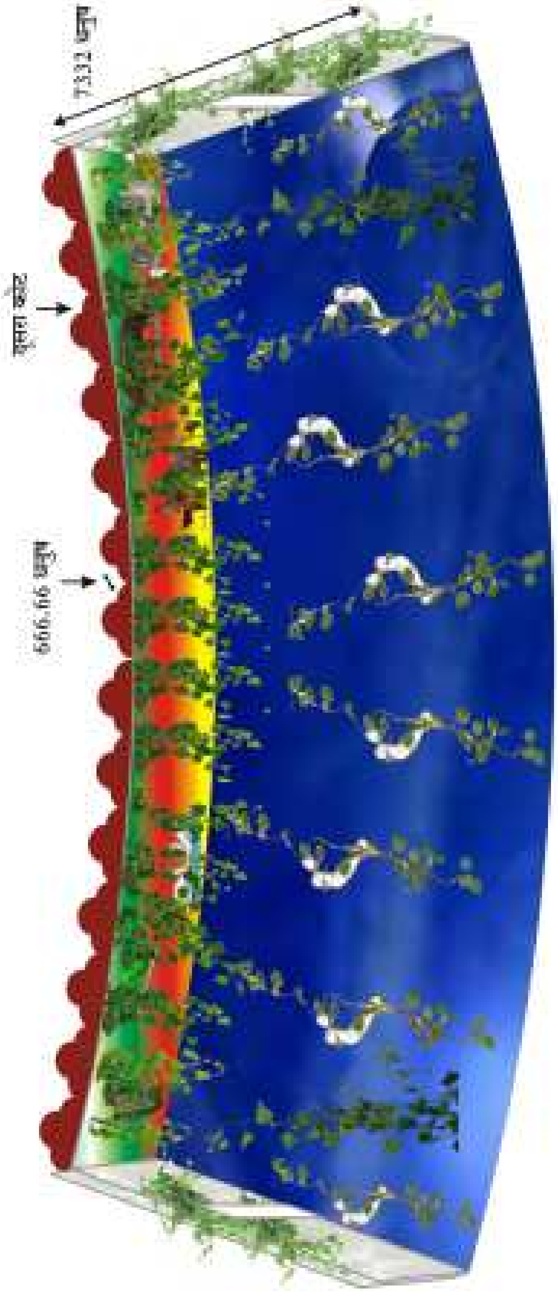

तीसरी लता भूमि

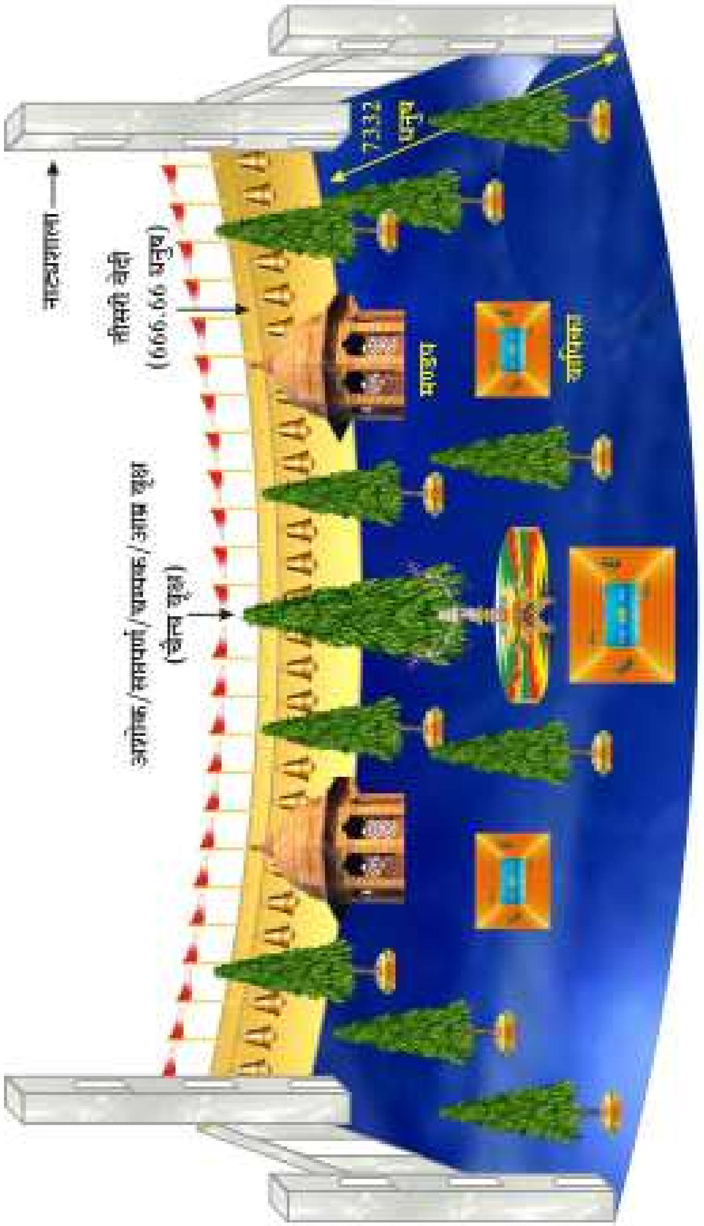

चौथी उपवन भूमि

चैत्य वृक्ष

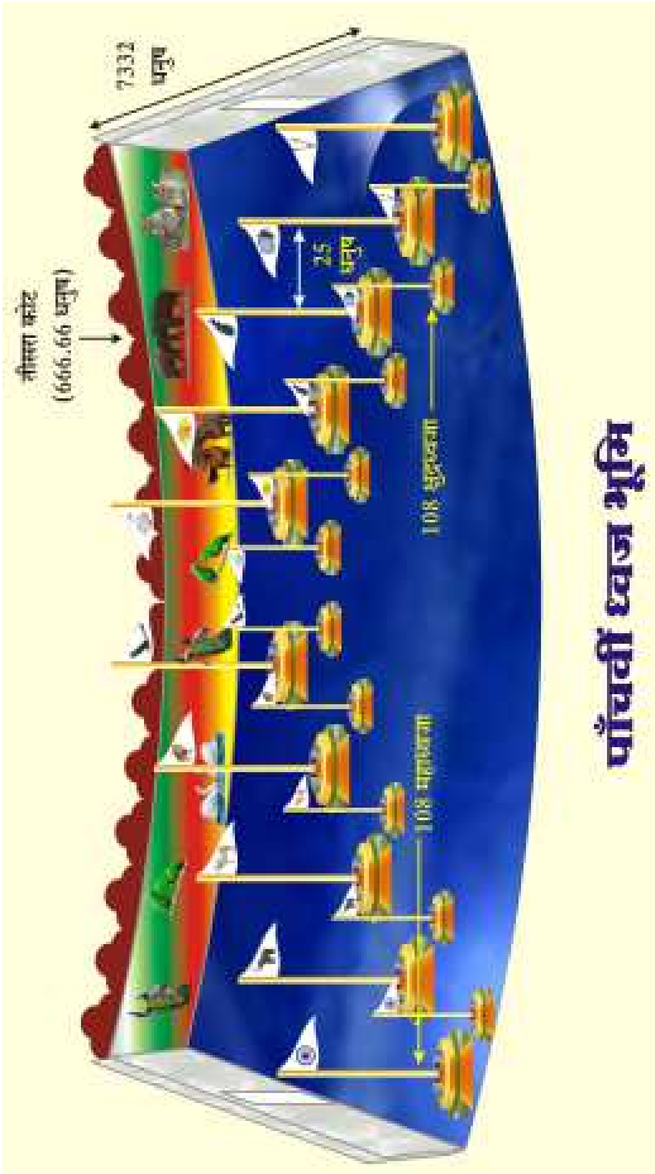
पाँचवीं ध्वज भूमि
तीसरा कोट (666.66 धनुष)
7332 धनुष
25 धनुष
108 क्षुद्रध्वजा
108 महाध्वजा

21.333 अंगुल
6000 धनुष

ध्वज

स्तूप

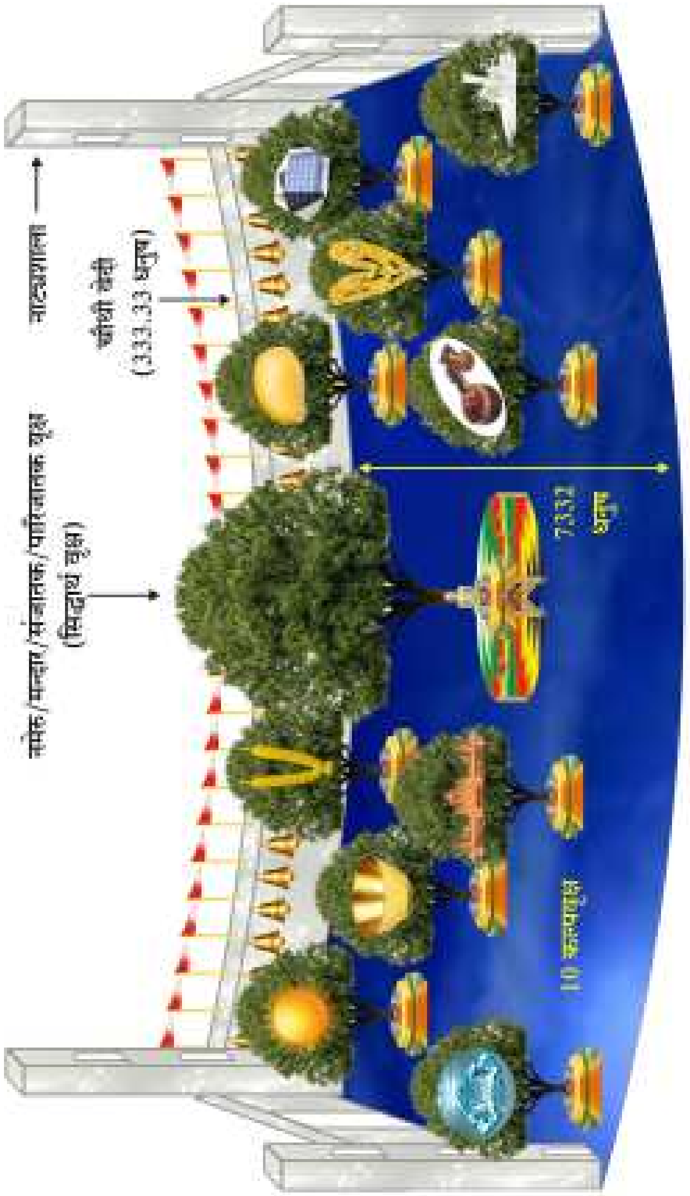

2000 कल्पवृक्ष भूमि

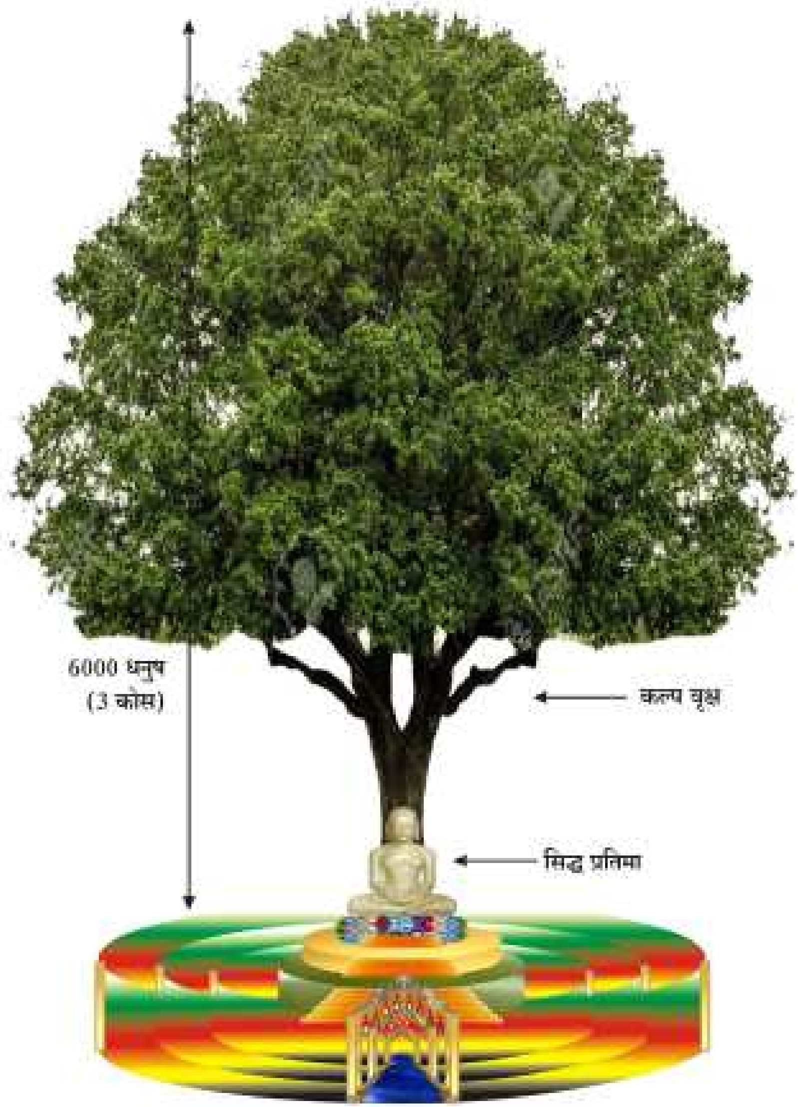

सिद्धार्थ वृक्ष

सातवीं भवन भूमि

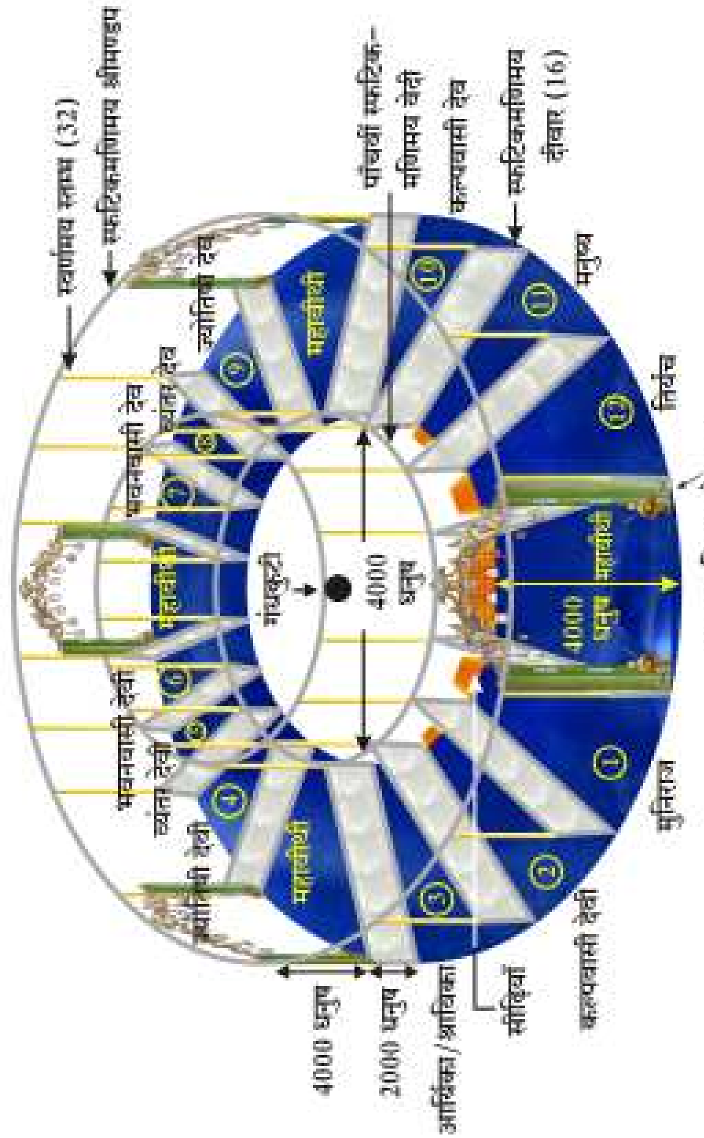

आठवीं श्रीमण्डप भूमि

पीठ

अष्ट प्रातिहार्य

गंधकुटी